अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा, बदलता शक्ति संतुलन तथा भविष्य की सम्भावनाएँ

-सुखविन्दर

19वीं शताब्दी के अन्त तथा 20वीं शताब्दी के शुरू में पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर नये लक्षण प्रकट हुए। स्वतंत्र प्रतियोगिता वाला पूँजीवाद, इजारेदार पूँजीवाद की या साम्राज्यवाद की मंजिल में दाखिल हुआ। पूँजीवाद की इस नयी मंजिल को सांगोपांग समझने तथा इसी नयी मंजिल के अनुरूप अपनी रणनीति तथा रणकौशल निर्धारित करने का कार्यभार सर्वहारा आन्दोलन के समक्ष उपस्थित हुआ। जून 1916 में विश्व सर्वहारा के महान नेता तथा अध्यापक कामरेड लेनिन ने अपनी पुस्तक, 'साम्राज्यवाद-पूँजीवाद की चरम अवस्था' में इस कार्यभार को अंजाम दिया। इसके साथ ही पूँजीवाद की इस नयी मंजिल के बारे में अलग-अलग समझों में विवाद भी पैदा हुए। लेनिन के साम्राज्यवाद के सिद्धान्त के समान्तर दूसरी इण्टरनेशनल के नेता, किसी समय सुप्रसिद्ध मार्क्सवादी सिद्धान्तकार रहे, कार्ल काउत्सकी ने साम्राज्यवाद का अपना सिद्धान्त पेश किया। कार्ल काऊत्सकी ने साम्राज्यवाद को पूँजीवाद की एक नई नीति कहा। और यह दावा भी किया कि वर्तमान साम्राज्यवादी नीति का स्थान किसी अति-साम्राज्यवादी नीति द्वारा लिया जा सकता है जो कि राष्ट्रीय वित्तीय पूँजियों की आपसी प्रतिस्पर्धा के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर एकजुट वित्तीय पूँजी द्वारा दुनिया की सम्मलित लूट-खसोट को लागू कर देगी। साम्राज्यवाद का यह काउत्सकीपंथी सिद्धान्त अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्था को खारिज करता था तथा पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर स्थाई शान्ति का भ्रम पैदा करता था। लेनिन ने काउत्सकी के इस सिद्धान्त की तीखी आलोचना की। दो विश्वयुद्धों तथा उसके बाद भी आज तक पूरी दुनिया में चलते रहे अन्तरसाम्राज्यवादी टकरावों ने बार-बार साम्राज्यवाद के लेनिनवादी सिद्धान्त की पुष्टि की है। और काउत्सकी के सिद्धान्त को खारिज किया है। लेकिन काउत्सकी के अति-साम्राज्यवाद (Ultra-Imperialism) सिन्द्धान्त की प्रेत आत्मा नये-नये नामों तले तथा नये-नये रूपों में प्रकट होती रहती है जिसका निशाना हमेशा साम्राज्यवाद का लेनिनवादी सिद्धान्त होता है। पिछली एक सदी से इन दोनों सिद्धान्तों के बीच बहस जारी है।

1991 में जब सामाजिक साम्राज्यवादी सोवियत यूनियन धराशयी हो गया, तब दुनिया की एक ध्रुवता, साम्राज्यवाद के खत्म होने, साम्राज्यवाद के लेनिनवादी सिद्धान्त के अप्रासंगिक होने तथा साम्राज्यवाद के अन्य नये सिद्धान्तों का बाज़ार गर्म रहा है। सोवियत यूनियन के बिखराव के बाद पूँजीवादी विश्व में शक्ति संतुलन में आये बदलाव के मद्देनज़र कुछ भूतपूर्व लेनिनवादियों ने यह तक दावा कर दिया कि बीसवीं शताब्दी के शुरू में जब साम्राज्यवाद के प्रश्न पर लेनिन तथा काउत्सकी के बीच बहस हुई थी उस समय लेनिन सही थे, लेकिन बाद के घटनाक्रम ने काउत्सकी को सही सिद्ध किया है। लेकिन पिछले कुछ वर्षों से अलग-अलग साम्राज्यवादी धुरियों, खासतौर पर एक तरफ अमेरिका तथा दूसरी तरफ रूस के बीच जो प्रतिस्पर्धा तीखी हुई है, उसने ऐसे सिद्धान्तकारों के लिए बड़ी समस्या खड़ी कर दी है। अनेकों विश्लेषक इसे अमेरिकी तथा रूसी साम्राज्यवाद के बीच नये शीत युद्ध का नाम भी दे रहे हैं।

1991 में सोवियत यूनियन के बिखराव के बाद अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा वक्ती तौर पर मद्धिम पड़ गई थी। साम्राज्यवादी रूस अपनी आन्तरिक समस्याओं में बुरी तरह उलझ गया। जर्मनी, जापान, बरतानिया, फ्रांस, आदि साम्राज्यवादी देश अमेरिकी साम्राज्यवादियों के पिछलग्गुओं की भूमिका में आ गये। अमेरिकी नेतृत्व में पूरा साम्राज्यवादी खेमा एकजुट नज़र आने लगा, भले ही गौण रूप में इसमें भी अन्तरविरोध थे। जो समय-समय पर सतह पर भी आते रहे हैं। साम्राज्यवादी विश्व की यह हकीकत कुछ समय के लिए ही थी। लेकिन कुछ ''मार्क्सवादियों'' तथा

बुर्जुआ विश्लेषकों ने इसे मौजूदा विश्व की स्थाई सच्चाई घोषित कर दिया। उन्होंने साम्राज्यवादी देशों के बीच मेल-मिलाप तो देखा लेकिन उनके बीच प्रतिस्पर्धा को खारिज कर दिया।

लेकिन अब जब सतह के नीचे की अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा उभरकर सामने आ गई है तो इन विश्लेषकों के लिए इस सच्चाई को हजम कर पाना मुश्किल हो रहा है।

इस पेपर में हम यह दिखाएँगे कि अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा का लेनिनवादी सिद्धान्तिक आधार क्या है तथा आज की साम्राज्यवादी दुनिया किस तरह इस सिद्धान्त की प्रासंगिकता की पुष्टि करती है। इसके साथ ही हम आज की दुनिया में साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा के स्वरूप तथा भविष्य की सम्भावनाओं पर भी विचार करेंगे।

साम्राज्यवाद का लेनिनवादी सिद्धान्त और उसके बाद की दुनिया

आज की दुनिया में साम्राज्यवाद के प्रश्न पर जो विवाद/बहसें उठते रहते हैं, उनमें से अनेकों को ठीक ढंग से समझने के लिए 20वीं सदी के शुरू में इसी प्रश्न पर लेनिन और काउत्स्की के बीच हुए विवाद को समझना जरूरी है। आज जो विद्वान साम्राज्यवाद के लेनिनवादी सिद्धान्त को तिलांजलि देते हैं, या यह कहते हैं कि आज की दुनिया लेनिन के समय (जब साम्राज्यवाद का लेनिनवादी सिद्धान्त अस्तित्व में आया था) से बुनियादी तौर पर भिन्न है या यह दावा करते हैं कि आज की दुनिया को साम्राज्यवाद के लेनिनवादी सिद्धान्त के चौखटे में रखकर नहीं समझा जा सकता, उनमें से अधिकांश आम तौर पर किसी न किसी रूप में काउत्स्की के 'अति-साम्राज्यवाद' के सिद्धान्त पर जा खड़े होते हैं। इनके शब्द, व्याख्या अलग हो सकती है, लेकिन इनके सिद्धान्त का मूलतत्व काउत्स्की के 'अति-साम्राज्यवाद' के सिद्धान्त वाला ही है। हमारा यहाँ कहने का मतलब यह नहीं है कि आज दुनिया 20वीं सदी के शुरू में ठहर गई है या लेनिन की पुस्तक 'साम्रज्यवाद, पूँजीवाद की चरम अवस्था' लिखे जाने (जनवरी-जून 1916) के बाद साम्राज्यवाद की कार्यप्रणाली में कोई बदलाव न हुआ हो। निश्चित ही ये बदलाव आए हैं, जिसकी व्याख्या हम आगे चलकर करेंगे। यहाँ हम इतना ही कहेंगे कि ये बदलाव ऐसे नहीं हैं जिससे साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा के अन्त का ऐलान कर दिया जाए, जैसा कि कई ''मार्क्सवादी'' विद्वानों ने किया है।

खैर, थोड़ा पीछे जाते हुए बात लेनिन और काउत्स्की के बीच साम्राज्यवाद के प्रश्न पर हुए विवाद से शुरू करते हैं। साम्राज्यवाद आम तौर पर पूँजीवाद के बुनियादी लक्षणों के विकास और उनकी प्रत्यक्ष निरन्तरता के तौर पर अस्तित्व में आया। स्वतन्त्र प्रतियोगिता के पूँजीवाद के (अपने विकास के एक निश्चित और बहुत उँची अवस्था पर, कहा जा सकता है कि 19वीं सदी के अन्त और 20वीं सदी के शुरू में) बुनियादी लक्षण अपने विपरीत में बदलने शुरू हो गए। आर्थिक तौर पर पूँजीवाद और सामान्यत: माल उत्पादन का बुनियादी लक्षण, स्वतंत्र प्रतियोगिता अपने विपरीत इजारेदारी में बदल गया। कोई भ्रम न पैदा हो इसलिए स्पष्ट कर देना जरूरी है कि इजारेदारी, जो स्वतन्त्र प्रतियोगिता से पैदा हुई, प्रतियोगिता खत्म नहीं करती। लेनिन के शब्द में कहना हो तो इजारेदारी स्वतन्त्र प्रतियोगिता से ऊँचे और इसके साथ-साथ रहते हैं और इस तरह बहुत सारे तीखे, सख्त विरोधों, झगड़ों और टकरावों को जन्म देते हैं, इजारेदारी पूँजीवाद की एक उच्च अवस्था की तरफ बदलाव है।

इजारेदारी के उत्थान सहित 19वीं सदी के अन्त और 20वीं सदी के शुरू में पूँजीवाद के जो नए लक्षण पैदा हुए उन्हें समेटते हुए लेनिन ने साम्राज्यवाद को इस तरह परिभाषित किया, ''(1) उत्पादन तथा पूँजी का संकेन्द्रण विकसित होकर इतनी ऊँची अवस्था में पहुँच गया है कि उसने इजारेदारियों का जन्म दिया है, जिनकी आर्थिक जीवन में एक निर्णायक भूमिका है; (2) बैंक-पूँजी और औद्योगिक पूँजी मिलकर एक हो गयी हैं और इस ''वित्तीय पूँजी'' के आधार पर वित्तीय अल्पतन्त्र की सृष्टि हुई है; (3) माल-निर्यात से भिन्न पूँजी-निर्यात ने असाधारण महत्त्व धारण कर लिया है; (4) अन्तरराष्ट्रीय इजारेदार पूँजीवादी संघों का निर्माण हुआ, जिन्होंने दुनिया को आपस में बाँट लिया है और (5) सबसे

बड़ी पूँजीवादी ताकतों के बीच दुनिया का क्षेत्रीय बँटवारा पूरा हो गया है। साम्राज्यवाद पूँजीवाद के विकास की वह अवस्था है, जिसमें पहुँचकर इजारेदारियों तथा वित्तीय पूँजी का प्रभुत्व दृढ़ रूप से स्थापित हो चुका है, जिसमें पूँजी का निर्यात अत्यधिक महत्त्व ग्रहण कर चुका है, जिसमें अन्तरराष्ट्रीय ट्रस्टों के बीच दुनिया का बँटवारा आरम्भ हो गया है, जिसमें सबसे बड़ी पूँजीवादी ताकतों के बीच पृथ्वी के समस्त क्षेत्रें का बँटवारा पूरा हो चुका है।'' (लेनिन, 'साम्राज्यवाद, पूँजीवाद की चरम अवस्था', पृष्ठ-91, राहुल फ़ाउण्डेशन, लखनऊ)

लेकिन कार्ल काउत्स्की, जो कि दूसरे इंटरनेशनल के दौर के प्रमुख सिद्धान्तकार थे, की साम्राज्यवाद पर समझ लेनिन की समझ के ठीक उलट थी। उनका कहना था कि, ''साम्राज्यवाद को अर्थव्यवस्था की कोई ''मंज़िल'' या अवस्था नहीं, बल्कि एक नीति समझा जाना चाहिए, एक निश्चित नीति, जिसे वित्तीय पूँजी ''तरजीह देती है''। ... ''वर्तमान पूँजीवाद'' और साम्राज्यवाद को ''एक ही चीज़'' नहीं समझना चाहिए...'' (लेनिन द्वारा उद्धृत, उपरोक्त, पृष्ठ-92)

आगे लेनिन काउत्स्की के उपरोक्त विचारों की आलोचना करते हुए लिखते हैं, ''सार की बात यह है कि काउत्स्की साम्राज्यवाद की राजनीति को उसकी अर्थनीति से अलग कर लेते हैं, वे संयोजनों को एक ऐसी नीति बताते हैं, जिसे वित्तीय पूँजी मानो ''तरजीह देती है'', और उसके मुकाबले एक दूसरी पूँजीवादी नीति लाकर खड़ी कर देते हैं, जिसके बारे में उनका कहना यह है कि वह इसी वित्तीय पूँजी के आधार पर सम्भव हो सकती है। तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अर्थतन्त्र की इजारेदारियाँ राजनीति के ग़ैर-इजारेदारी, अहिंसात्मक तथा ग़ैर-संयोजनकारी तरीकों के साथ मेल खा सकती हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि दुनिया का क्षेत्रीय विभाजन, जो ठीक वित्तीय पूँजी के युग में ही पूरा किया गया था और जो सबसे बड़े पूँजीवादी राज्यों के बीच प्रतिद्वन्द्विता के वर्तमान विशिष्ट रूपों का आधार है, ग़ैर-साम्राज्यवादी नीति के साथ मेल खा सकता है। इसका परिणाम है पूँजीवाद की नवीनतम मंज़िल के गूढ़तम अन्तरविरोधों की गहराई की कलई खोलने के बजाय उन्हें अनदेखा कर देना तथा उनकी तीव्रता को कम कर देना, इसका परिणाम है मार्क्सवाद के बजाय पूँजीवादी सुधारवाद। (उपरोक्त, पृष्ठ- 95)

काउत्स्की यहीं नहीं रुकते, वे कहते हैं कि पूँजीवाद एक ऐसी अवस्था में दाखिल हो जाएगा जहाँ साम्राज्यवादियों के परस्पर अन्तरविरोध, झगड़े, प्रतिस्पर्धा खत्म हो जाएँगे। इसे वह 'अति-सामाज्यवाद' की अवस्था कहता है। कार्ल काउत्सकी का 'अति-साम्राज्यवाद' का यह सिद्धान्त मौलिक नहीं था बल्कि हॉबसन के अन्तरसाम्राज्यवाद का ही दूसरा नाम था। लेनिन, काउत्स्की की इस अवधारणा पर टिप्पणी करते हैं, ''यदि शुद्धतः आर्थिक दृष्टिकोण से अभिप्राय ''शुद्ध'' विविक्ति है, तो इस सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा जा सकता है, वह केवल निम्नलिखित प्रस्थापना तक ही सीमित रह जाता है: विकास इजारेदारियों की ओर बढ़ रहा है और फलतः एक ही विश्वव्यापी इजारेदारी की ओर, अर्थात एक ही सार्वभौमिक ट्रस्ट की ओर बढ़ रहा है। यह निर्विवाद बात है, परन्तु साथ ही उतनी ही पूर्णतः निरर्थक भी है, जितना कि यह कहना कि ''विकास'' प्रयोगशालाओं में खाद्य- सामग्री के उत्पादन की दिशा में ''बढ़ रहा है''। इस दृष्टि से अति-साम्राज्यवाद का ''सिद्धान्त'' ''अति-कृषि के सिद्धान्त'' से कम बेतुका नहीं है।'' (उपरोक्त, पृष्ठ-96)

आगे लेनिन लिखते हैं, ''इसमें कोई सन्देह नहीं कि पूँजीवाद के अन्तर्गत इजारेदारी विश्व बाज़ार से होड़ को कभी भी पूरी तरह और बहुत दीर्घकाल के लिए ख़त्म नहीं कर सकती (और प्रसंगवश बता दें कि अति-साम्राज्यवाद के सिद्धान्त के इतना बेतुका होने का यह भी एक कारण है)।'' (उपरोक्त, पृष्ठ-102)

''अपना नेतृत्व स्थापित करने की, अर्थात नये इलाकों पर विजय प्राप्त करने की कोशिश में अनेक बड़ी ताकतों की प्रतिद्वन्द्विता साम्राज्यवाद की एक बुनियादी विशेषता है, जिसका उद्देश्य स्वयं अपने इलाके में वृद्धि करने की अपेक्षा अपने प्रतिद्वन्द्वी को कमज़ोर करना और उसके प्राधान्य की जड़ें खोखली करना ज़्यादा होता है'' (उपरोक्त, पृष्ठ- 94)

साम्राज्यवादियों के बीच परस्पर प्रतिस्पर्धा की जड़ को पकड़ते हुए लेनिन लिखते हैं, ''वास्तव में यदि हम सुविदित तथा अकाट्य तथ्यों की तुलना भर करें, तो हमें विश्वास हो जायेगा कि काउत्स्की जर्मन मज़दूरों के सामने; और सभी देशों के मज़दूरों के सामने; जिन सम्भावनाओं का आकर्षक चित्र प्रस्तुत करना चाहते हैं, वे कितनी झूठी हैं। भारत, हिन्द-चीन का उदाहरण ले लीजिये। यह विदित है कि ये तीन औपनिवेशिक तथा अर्ध-औपनिवेशिक देश, जिनकी कुल आबादी साठ से सत्तर करोड़ तक है, कई साम्राज्यवादी ताकतों की - ग्रेट ब्रिटेन, फ़्रांस, जापान, संयुक्त राज्य अमेरिका आदि की - वित्तीय पूँजी के शोषण का शिकार हैं। मान लीजिये कि ये साम्राज्यवादी देश इन एशियाई राज्यों में अपने अधिकृत क्षेत्रों, अपने हितों और अपने ''प्रभाव क्षेत्रों'' की रक्षा करने या उन्हें बढ़ाने के उद्देश्य से एक-दूसरे के ख़िलाफ़ गँठजोड़ कर लेते हैं; ये गँठजोड़ ''अन्तर- साम्राज्यवादीय'' अथवा ''अति-साम्राज्यवादी'' गँठजोड़ होंगे। मान लीजिये कि सभी साम्राज्यवादी देश एशिया के इन देशों का ''शान्तिपूर्वक'' बँटवारा कर लेने के लिए आपस में गँठजोड़ कर लेते हैं; यह गँठजोड़ ''अन्तरराष्ट्रीय पैमाने पर एकबद्ध वित्तीय पूँजी'' का गँठजोड़ होगा। बीसवीं शताब्दी के इतिहास में इस प्रकार के गँठजोड़ों के वास्तविक उदाहरण मिलते हैं, जैसे चीन के प्रति बड़ी ताकतों का रवैया। हम पूछते हैं कि पूँजीवादी व्यवस्था के बरकरार रहने की स्थिति में (और काउत्स्की ने ठीक ऐसी ही स्थिति की कल्पना की है) क्या यह ''कल्पनीय'' है कि इस प्रकार के गँठजोड़ अस्थायी नहीं होंगे, कि वे हर प्रकार के टकरावों, झगड़ों तथा संघर्षों को ख़त्म कर देंगे?

इस प्रश्न को स्पष्ट रूप से पेश कर देना ही इस बात के लिए काफ़ी है कि उसका 'नहीं' के अलावा और कोई उत्तर नहीं हो सकता, क्योंकि पूँजीवाद के अन्तर्गत प्रभाव-क्षेत्रों, हितों, उपनिवेशों आदि के बँटवारे के लिए उसमें भाग लेने वालों की ताक़त, उनकी आम आर्थिक, वित्तीय, सैनिक आदि ताक़त के लिहाज़ के अतिरिक्त और किसी दूसरे आधार की कल्पना नहीं की जा सकती। लेकिन विभाजन में भाग लेने वालों की ताक़त में समान रूप से परिवर्तन नहीं होता, क्योंकि पूँजीवाद के अन्तर्गत विभिन्न उद्यमों, ट्रस्टों, उद्योगों की शाखाओं या देशों का समान विकास असम्भव है। अब से पचास वर्ष पहले इंग्लैण्ड की उस समय की ताक़त की तुलना में जर्मनी अपनी पूँजीवादी ताक़त की दृष्टि से एक बहुत ही कमज़ोर तथा नगण्य देश था; रूस की तुलना में जापान की यही हालत थी। क्या यह ''कल्पनीय'' है कि दस या बीस वर्षों में साम्राज्यवादी ताक़तों की आपेक्षिक शक्ति अपरिवर्तित रहेगी? कदापि नहीं।'' (उपरोक्त, पृष्ठ- 121-122)

इससे लेनिन इस नतीजे पर पहुँचते हैं, ''**ऐसी** आर्थिक व्यवस्था के अन्दर, **जब तक** उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व का अस्तित्व है, साम्राज्यवादी युद्धों का होना एकदम अनिवार्य है।'' (फ्रांसीसी व जर्मन संस्करणों की भूमिका, उपरोक्त, पृष्ठ-9)

कुछ भूतपूर्व लेनिनवादी यह दावा करते हैं कि 20वीं सदी के शुरू में लेनिन और काउत्स्की के बीच साम्राज्यवाद के प्रश्न पर हुए विवाद में लेनिन सही थे, लेकिन बाद के घटनाक्रम ने काउत्स्की को सही सिद्ध किया। हम दिखाएँगे कि साम्राज्यवादी विश्व की हकीकत इसके बिल्कुल विपरीत है। लेनिन द्वारा 'साम्राज्यवाद : पूँजीवाद की चरम अवस्था' लिखे जाने के बाद (जून, 1916 के बाद) की दुनिया ने लेनिन के विचारों की बार-बार पुष्टि की है। जबकि दुनिया अभी काउत्स्की के 'अति-साम्राज्यवाद' के, चिरकालिक अमन-चैन की अवस्था में नहीं पहुँची और दूर-दूर तक इसकी कोई सम्भावना भी नज़र नहीं आती।

लेनिन जब अपनी उपरोक्त पुस्तक लिख रहे थे तब साम्राज्यवादी देश धरती के वितरण व पुनःवितरण के लिए, पहले विश्व युद्ध में बुरी तरह उलझे हुए थे। इसी युद्ध के दौरान रूस में पहली समाजवादी क्रान्ति सम्पन्न हुई और सर्वहारा सत्ता अस्तित्व में आई। पहला विश्व युद्ध 1919 में समाप्त हुआ। इसकी समाप्ति के 20 वर्षों के बाद ही साम्राज्यवादी गिरोह धरती के पुनःवितरण के लिए दूसरे विश्व युद्ध में उलझ गए। इस समय तक विश्व की सबसे बड़ी साम्राज्यवादी ताकत ब्रिटेन था। दूसरे विश्व युद्ध में ब्रिटेन का वर्चस्वकारी साम्राज्यवादी ताकत के रूप में सूर्यास्त हो गया। जर्मनी, जापान बुरी तरह तबाह हो गए। अमेरिका जो इस युद्ध से एक हद तक दूर रहा था, सबसे अधिक फायदे में रहा, तबाह हुए यूरोप में इसे पूँजी निवेश के नए अवसर भी मिले। साम्राज्यवादी गिरोह की सरदारी अब अमेरिका के हाथ में आ गई थी। उधर दूसरे विश्व युद्ध के बाद एक शक्तिशाली समाजवादी शिविर भी अस्तित्व में आ चुका था। दूसरे विश्व युद्ध में ब्रिटेन, जापान, जर्मनी, और अन्य साम्राज्यवादी ताकतों की भयानक तबाही के बाद, अन्तर-साम्राज्यवादी अन्तर्विरोध पृष्ठभूमि में चले गए, जबकि समाजवादी शिविर और साम्राज्यवादी शिविर का अन्तर्विरोध विश्व स्तर पर मुख्य अन्तर्विरोध बन गया। 1956 में सोवियत यूनियन में पूँजीवाद की पुनर्स्थापना के बाद समाजवादी सोवियत यूनियन एक सामाजिक साम्राज्यवादी ताकत के रूप में उभरा। अब एक बार फिर दो साम्राज्यवादी शिविरों अमेरिकी और सोवियत साम्राज्यवादी शिविरों के बीच, अपने-अपने प्रभाव क्षेत्रों के फैलाव के लिए प्रतिस्पर्धा तीखी हो गई।

अपने सामाजिक-जनवादी पूर्वाग्रहों के चलते ऐजाज अहमद सोवियत यूनियन में 1956 में हुई पुनर्स्थापना को नहीं समझते। यही वजह है कि 1956 के बाद सोवियत और अमेरिकी साम्राज्यवादी शिविरों के बीच के अन्तर्विरोध को अन्तर-साम्राज्यवादी अन्तर्विरोध के तौर पर न देखते हुए इसे ''अन्तर-व्यवस्था प्रतिस्पर्धा'' (Inter-Systemic Rivalry) कहते हैं। (देखिए उनका निबन्ध 'हमारे समय का साम्राज्यवाद', Imperialism of Our Times, Socialist Register 2004, पृष्ठ -44)। सोवियत यूनियन में पूँजीवादी पुनर्स्थापना को न समझ पाने ने भी ''हमारे समय के साम्राज्यवाद'' के बारे में ऐजाज अहमद के पूर्वाग्रहों में काफ़ी भूमिका निभाई है।

1960 का दशक आते-आते जापान और जर्मनी जैसे देश अपने विध्वंस से उबरकर साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा में कूद चुके थे और समय बीतने के साथ यह प्रतिस्पर्द्धा तीखी होती गयी। अमेरिकी और सोवियत साम्राज्यवादी शिविर के बीच जो महाशक्तियों की प्रतिस्पर्धा जारी थी वह 1991 तक जारी रही। 1991 में सामाजिक-साम्राज्यवादी सोवियत यूनियन अपने अन्दरूनी संकटों तथा बाहरी दबावों का बोझ न सहन करता हुआ बिखर गया। विश्व में समाजवादी शिविर पहले ही खत्म हो चुका था। समाजवादी चीन में भी 1976 में कामरेड माओ की मौत के बाद पूँजीवादी पुनर्स्थापना हो चुकी थी।

1991 में सामाजिक साम्राज्यवादी सोवियत यूनियन बिखरने के बाद अस्थाई तौर पर अमेरिकी साम्राज्यवाद के सामने भू-राजनीतिक तौर पर एक चुनौती रहित विश्व था। अब उसे चुनौती दे पाने वाला न तो कोई समाजवादी शिविर ही मौजूद था और न ही कोई शक्तिशाली साम्राज्यवादी शिविर। ब्रिटेन, जर्मनी, जापान, आदि साम्राज्यवादी शक्तियाँ इस दौरान भू-राजनीतिक व सैन्य मसलों में अमेरिकी साम्राज्यवाद के वर्चस्व के मातहत थीं लेकिन साथ ही जर्मनी और जापान के साथ अमेरकिी साम्राज्यवादी आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा जारी थी। 1991 में जब अमेरिका ने इराक पर हमला किया तब साम्राज्यवादी शिविर (अमेरिका, ब्रिटेन, जर्मनी, आदि) अधिक एकजुट दिखाई दे रहा था। इस स्थिति ने भी एक ओर कुछ लोगों में 'साम्राज्यवाद के अंत' के सिद्धान्त को जन्म दिया तो वहीं दूसरी ओर अन्य लोगों में 'साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा के अन्त' व एकध्रुवीयता का भ्रम पैदा किया। लेकिन यह स्थिति अस्थाई थी। जैसे ही रूसी साम्राज्यवाद अपने भीतरी संकटों से थोड़ा उभरा, उसने अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अमेरिकी साम्राज्यवाद को अधिक से अधिक चुनौती देनी शुरू कर दी। इसकी अधिक व्याख्या हम थोड़ा आगे चलकर करेंगे। यहाँ हम अब उन सिद्धान्तों की ओर लौटते हैं, जिनमें यह

घोषणा की गई है कि अब अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा खत्म हो चुकी है, कि दुनिया बुनियादी तौर पर किसी नए दौर में (जिसे काउत्स्कीपन्थी 'अति-साम्राज्यवाद' का दौर भी कहा जा सकता है) दाखिल हो चुकी है। यहाँ पर हम कुछेक चुनिन्दा विद्वानों के सिद्धान्तों की पड़ताल करेंगे। यहाँ हम साम्राज्यवाद के विषय में इनके विचारों की समूचे रूप में नहीं, सिर्फ संक्षेप रूप में इस निबन्ध के विषय-वस्तु से सम्बन्धित नुक्तों पर विचार करेंगे।

यहाँ हम ऐजाज अहमद के साम्राज्यवाद के बारे में दो निबन्धों की चर्चा करेंगे। पहला है 'हमारे समय का साम्राज्यवाद' (Imperialism of Our Times, Socialist Register 2004,)। इनका दूसरा लेख है 'साम्राज्य का सूर्यास्त?' (Imperial Sunset?, Frontline, 24 March - 6 April 2007)। इन दोनों निबन्धों में ऐजाज अहमद के साम्राज्यवाद के बारे में विचार काफ़ी विस्तार में आए हैं। अपने बाद वाले निबन्ध में ऐजाज अहमद अपने पहले निबन्ध की अवस्थितियों से पीछे हटते नज़र आते हैं। इसकी अधिक चर्चा हम थोड़ा आगे चलकर करेंगे।

साम्राज्यवाद के लेनिनवादी सिद्धान्त और अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा के बारे में ऐज़ाज़ अहमद के विचारों का सारांश इस प्रकार है –

साम्राज्यवाद के प्रश्न पर लेनिन की सोच एक संधिबिन्दुबद्ध विश्लेषण (Conjunctural Analysis) की प्रक्रिया में से उभरी। यह विश्लेषण उस समय चल रही तीखी बहसों जैसे कि एक विश्व युद्ध अवश्यंभावी है या नहीं, कि अगर युद्ध शुरू होता है तो समाजिक-जनवाद कौन सा मार्ग अपनाएगा, विभिन्न देशों में (खासकर जर्मनी में) समाजिक-जनवाद जंगी कर्जों के पक्ष में वोट देगी या विरोध में, युद्ध के दौरान क्रान्तिकारी सम्भावनाएँ पैदा होंगी या नहीं और कहाँ क्रान्ति की सम्भावनाएँ अधिक हैं आदि, के लिए जरूरी था। इस अवधारणा (साम्राज्यवाद के बारे में लेनिन की अवधारणा) का उल्लेखनीय पहलू यह था कि इसकी जड़ें न तो पूँजीवादी उत्पादन ढंग की गतिकी में ही थी और न ही प्रतियोगिता के इतिहासिक विश्लेषण में जिसने शुरू से ही उपनिवेशवादी शक्तियों के बीच बार-बार झगड़ों को जन्म दिया। अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा का विचार 'सबसे कमज़ोर कड़ी' (उदाहरण के तौर पर रूस में जर्मनी से अधिक क्रान्तिकारी सम्भावनाएँ होने) के साथ नज़दीक से जुड़ा हुआ था।

''अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा की अवधारणा, पूँजीवादी उत्पादन ढंग के विश्वव्यापी उद्भव (Evolution) में एक पड़ाव को पहले ही मान लेता है, जिसमें राष्ट्रीय पूँजियाँ लाज़िमी तौर पर अलग-अलग (Discrete) होती हैं, जिनमें अन्तर-भेदन (Interpenetration) नाममात्र है। अब जब हम उन रचनाओं की ओर दुबारा लौटते हैं तो हम उनके पूरी तरह अलग युग से सम्बन्धित होने पर हैरान रह जाते हैं।" (देखें, 'हमारे समय का साम्राज्यवाद', उक्त)

ऐज़ाज़ अहमद का कहना है कि वह साम्राज्यवाद और था, जिसकी बात लेनिन ने की थी और ''हमारे समय का साम्राज्यवाद'' कुछ और चीज़ है। ''हमारे समय के साम्राज्यवाद'' की खासियतें ये हैं –

''अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा में उलझे साम्राज्यवाद से कहीं भिन्न यह एक ऐसे युग का साम्राज्यवाद है, जिसमें (क) राष्ट्रीय पूँजियाँ इस ढंग से घुल-मिल (Interpenetrated) गई हैं कि किसी भी क्षेत्रीय (Territarial) राज्य में सक्रिय पूँजी विभिन्न अनुपातों में राष्ट्रीय और पार-देशीय (Transnational) पूँजी से बनी हुई है। (ख) वित्तीय पूँजी, उत्पादक पूँजी पर इस तरह हावी है, जो यहाँ तक कि लेनिन के 'पूँजी के निर्यात' के थीसिस या कींस द्वारा सूदखोरों के लालच के बारे में दी गई चेतावनियों में कभी नहीं देखी गई। (ग) माल बाज़ारों से लेकर वित्त का आवागमन तक इतना ज्यादा हो चुका है कि एक भूमण्डलयीकृत राज्य का उत्थान, जिसके पास अच्छी-खासी सामरिक शक्ति भी हो, खुद व्यवस्था की एक वस्तुगत ज़रूरत बन चुका है। '' (उपरोक्त)

आइये, अब साम्राज्यवाद के लेनिनवादी सिद्धान्त और आज की साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था के तथ्यों की रौशनी में ऐज़ाज़ अहमद के साम्राज्यवाद के विचारों की छानबीन करते हैं।

ऐज़ाज़ अहमद यह दावा करते हैं कि साम्राज्यवाद के बारे में लेनिन की अवधारणा की जड़ें पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली की गतिकी में नहीं थीं। यह दिखाता है कि वह लेनिन के साम्राज्यवाद के सिद्धान्त से या तो पूरी तरह अपरिचित हैं, या उसकी बुनियादी तौर पर गलत पेशकारी कर रहे हैं। ऐज़ाज़ अहमद के दावे के ठीक विपरीत साम्राज्यवाद का लेनिनवादी सिद्धान्त पूरी तरह पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली की गतिकी के विश्लेषण की उपज है। लेनिन की पुस्तक 'साम्राज्यवाद, पूँजीवाद की चरम अवस्था' पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली की नवीनतम अवस्था का विश्लेषण है। जिसमें दिखाया गया है कि साम्राज्यवाद पूँजीवाद के बुनियादी लक्षणों के विकास की एक अवस्था है, जहाँ पहुँचकर यह पूँजीवादी साम्राज्यवाद बनी, जब इसके बुनियादी लक्षण अपने विरोधी रूपों में बदलने शुरू हो गए। लेनिन की उपरोक्त पुस्तक पढ़कर कोई समझदार व्यक्ति वह नतीजे नहीं निकालेगा, जो ऐज़ाज़ अहमद ने निकाले हैं।

साम्राज्यवाद के बारे में लेनिन के सिद्धान्त को ऐज़ाज़ अहमद एक 'संधिबिन्दुबद्ध विश्लेषण' कहते हैं, जो उनके मुताबिक उस समय साम्राज्यवादी युद्ध की आलोचना, इस युद्ध के प्रति सामाजिक-जनवाद की नीति, युद्ध कर्जों, युद्ध के दौरान पैदा होने वाली क्रान्तिकारी सम्भावनाओं (कमज़ोर कड़ी की अवधारणा) आदि प्रश्नों पर चल रही बहसों के लिए आवश्यक था। यानि अगर ऐसा 'संधिबिन्दु' (Conjuncture) न बनता तो साम्राज्यवाद के बारे में लेनिन के सिद्धान्त की कोई जरूरत नहीं थी। यहाँ ऐज़ाज़ अहमद चीज़ों को सिर का बल खड़ा करके देख रहे हैं। उपरोक्त प्रश्नों पर बहस में लेनिन की अवस्थिति, साम्राज्यवाद के युग में लेनिनवादी रणनीति और रणकौशल का अंग हैं जो साम्राज्यवाद के लेनिनवादी सिद्धान्त पर आधारित हैं। क्योंकि पूँजीवाद अब अपनी नवीनतम, चरम अवस्था में दाखिल हो गया है, इसलिए उपरोक्त प्रश्न उठ खड़े हुए हैं। उपरोक्त प्रश्न पर लेनिनवादी नीति आज भी उतनी ही प्रासंगिक है।

ऐज़ाज़ अहमद कहते हैं कि साम्राज्यवाद की लेनिनवादी अवधारणा उपनिवेशवादियों के बीच प्रतिस्पर्धा, जिसने शुरू से ही उनमें बार-बार झगड़ों को जन्म दिया, के इतिहासिक विश्लेषल पर भी आधारित नहीं है। शायद वह कहना चाहते हैं कि साम्राज्यवादियों के बीच झगड़े कोई नई बात नहीं है, यह पूँजीवाद की किसी अवस्था से सम्बन्धित नहीं है, बल्कि यह तो शुरू से ही होता आया है। लेनिन ने अपनी उपरोक्त पुस्तक में अखण्डनीय तथ्यों के जरिए दिखाया है कि पूँजीवाद के साम्राज्यवाद की अवस्था में दाखिल होने से अन्य देशों पर कब्जों के लिए साम्राज्यवादियों के बीच संघर्ष तीखा हुआ था। साम्राज्यवादी और उससे पहले की उपनिवेशवादी नीति की तुलना करते हुए लेनिन लिखते हैं, ''औपनिवेशिक नीति तथा साम्राज्यवाद का अस्तित्व पूँजीवाद की इस नवीनतम मंज़िल से पहले, यहाँ तक कि पूँजीवाद से भी पहले से था। रोम, जिसकी स्थापना दासता की बुनियाद पर हुई थी, औपनिवेशिक नीति का अनुसरण करता था तथा सामराजी रास्ते पर चलता था। परन्तु साम्राज्यवाद के बारे में वे ''आम'' तर्क-वितर्क, जिनमें विभिन्न सामाजिक-आर्थिक ढाँचों के मूलभूत अन्तर को भुला या पीछे डाल दिया जाता है, अनिवार्य रूप से बेहद ज़लील छिछोरेपन या ऐसी दम्भपूर्ण तुलनाओं का रूप धारण कर लेते हैं, जैसे कि ''वृहत्तर रोम तथा वृहत्तर ब्रिटेन''। पूँजीवाद की पूर्ववर्ती अवस्थाओं की पूँजीवादी औपनिवेशिक नीति भी वित्तीय पूँजी की औपनिवेशिक नीति से मूलतः भिन्न है।'' (साम्राज्यवाद, पूँजीवाद की चरम अवस्था, पृष्ठ-84)

आगे ऐज़ाज़ अहमद आज के समय में राष्ट्रीय पूँजियों के अन्तर-भेदन, वित्तीय पूँजी के उत्पादक पूँजी पर हावी होने, माल और वित्त के आवागमन के भूमण्डलीयकरण का तर्क देते हुए इस नतीजे पर पहुँच जाते हैं कि एक अन्तर्राष्ट्रीय राज्य अब पूँजी की वस्तुगत जरूरत बन चुका है। इस तरह वह काउत्स्की के 'अति-साम्राज्यवाद' की अवस्थिति पर पहुँच जाते हैं। ऐज़ाज़ अहमद का कहना है कि अब लेनिन की रचनाओं (साम्राज्यवाद के बारे में) की तरफ लौटते हुए

वह हैरान रह जाते हैं जैसे कि वे रचनाएँ बिल्कुल ही भिन्न युग से सम्बन्धित हों। काउत्स्की मार्का 'अतिसाम्राज्यवाद' के युग में पहुँचकर श्री ऐज़ाज़ अहमद को ऐसी हैरानी होना स्वभाविक ही है।

क्योंकि ऐज़ाज़ अहमद ने मान लिया है कि पूँजी अन्तर्राष्ट्रीयकृत हो चुकी है, बस अव तो सिर्फ एक विश्व राज्य की ही कमी रह गई है। हम लेनिन के हवाले से पहले ही दिखा चुके हैं कि साम्राज्यवाद के अन्तर्गत पूँजी का ऐसा "अन्तर्राष्ट्रीयकरण" असम्भव है। (लेनिन की पुस्तक 'साम्राज्यवाद, पूँजीवाद की चरम अवस्था' के पृष्ठ- 121-122 से ऊपर दिया गया उद्धरण)। आगे हम वर्तमान विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के तथ्यों के जरिए पूँजी के ऐज़ाज़ अहमदीय अन्तर्राष्ट्रीयकरण का खण्डन करेंगे।

ऐज़ाज़ अहमद जैसे लोगों की समस्या यह है कि वे पूँजी के अन्तर्राष्टीयकरण की प्रक्रिया को तो देखते हैं, लेकिन राष्ट्रीयकरण की प्रक्रिया को नज़रान्दाज़ कर देते हैं। अपनी पुस्तक 'साम्राज्यवाद और विश्व अर्थव्यवस्था' (Imperialism and World Economy) में बुखारिन इस प्रक्रिया के बारे में इस तरह लिखते हैं, ''आर्थिक जीवन के अन्तर्राष्टीयकरण की प्रक्रिया बुर्जुआज़ी के विभिन्न 'राष्ट्रीय' समूहों के बीच, हितों के टकराव को, और उँचे स्तर पर, तीखा कर सकता है और करता है . . . *'हितों का भाईचारा' (Community of Intrests)* इस क्षेत्र में हमेशा नहीं बनता. . . आर्थिक विकास के बहाव में (एकता की) प्रक्रिया के समान्तर, पूँजीवादी हितों के राष्ट्रीयकरण का एक विपरीत रूझान पैदा होता है '' (पृष्ठ 64-65, AAKAR Books, 2010)

बुखारिन इस रूझान के पैदा होने के तीन कारण बताते हैं। उनके मुताबिक पहला है, ''विश्व स्तर के मुकाबले राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिस्पर्धा में जीत पाना कहीं अधिक आसान होता है।'' दूसरा है, ''आर्थिक सरंचना की भिन्नताओं के अस्तित्व और इसके नतीजे के तौर पर उत्पादन लागतों में भिन्नताएँ उन्नत 'राष्ट्रीय' समूहों के लिए समझौतों को घाटे का सौदा बना देती हैं।'' तीसरा कारण है, ''राज्य और इसकी सरहदों से एकता की कड़ियाँ अपने-आप में एक फल-फूल रही इज़ारेदारी हैं, जो अतिरिक्त-मुनाफों की गारण्टी देती हैं।'' (उपरोक्त, पृष्ठ 74) यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि बुखारिन के इन विचारों में यह भटकाव अन्तर्निहित है कि इजारेदार पूंजीवाद के दौर में राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के पैमाने पर प्रतिस्पर्द्धा समाप्त हो जाती है और इसी के फलस्वरूप अन्तरराष्ट्रीय पैमाने पर साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा अधिक तीखे रूप में प्रकट होती है, जबकि लेनिन के लिए अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा का कारण असमान विकास का सिद्धान्त था, न कि राष्ट्रीय पैमाने पर प्रतिस्पर्द्धा का समाप्त होना, जो कि माल उत्पादन के जारी रहते राष्ट्रीय पैमाने पर भी समाप्त नहीं हो सकती।

20वीं सदी के सत्तर के दशक में जब दूसरे विश्वयुद्द के बाद शुरू हुआ 'पूँजी का स्वर्ण युग' अपने संतृप्ति बिन्दु पर पहुँच गया तो बहुराष्ट्रीय कार्पोरेशनों (MNC's) की परिघटना प्रभावी रूप में सामने आई। संयुक्त राष्ट्र संघ के मुताबिक राष्ट्र-पारीय कार्पोरेशनें (TNC's) इनका (MNC's) ही दूसरा नाम है। ये ऐसी विशालकाय कार्पोरेशनें हैं, जिनका कारोबार दुनिया के बड़े हिस्से में फैला हुआ है। आज दुनिया में जिन कार्पोरेशनों का अस्तित्व है, वे लगभग सभी ही (कुछेक को छोड़कर) साम्राज्यवादी देशों से सम्बन्ध रखती हैं। इनका सम्बन्ध अपने मूल देशों के राज्यों से टूटा नहीं है। ऐसी कोई भी बहुराष्ट्रीय कार्पोरेशन नहीं है, जो देशों, राष्ट्रों से ऊपर हो। आज जिन बहुराष्ट्रीय कार्पोरेशनों का अस्तित्व है हम उनको उनके देश के नाम से जोड़कर ही जानते हैं, जैसे कि अमेरिकी, जापानी, फ्रांसीसी, ब्रिटिश कार्पोरेशनें आदि। इन कार्पोरेशनों को जब भी विश्व में किसी कोने में समस्याएँ आती हैं तो इनका राष्ट्र राज्य, या इन इजारेदार कम्पनियों के संघ को संरक्षण देने वाले राष्ट्र-राज्यों के ब्लॉक, या उस ब्लॉक का कोई राष्ट्र-राज्य ही इनके हितों की हिफ़ाज़त के लिए सामने आता है। इन राष्ट्र राज्यों की मदद के बिना इन कार्पोरेशनों का विश्व के किसी भी कोने में टिक पाना मुश्किल होगा। अन्य देशों से रियायतें हासिल करने (खासकर तीसरी दुनिया के देशों से), वहाँ के हुक्मरानों

की बांह मरोड़ने के लिए भी इन कार्पोरेशनों को इन शक्तिशाली साम्राज्यवादी राष्ट्र राज्यों की ही मदद की जरूरत होती है।

यहाँ पर विश्व की 200 बड़ी कार्पोरेशनों का उदाहरण लिया जा सकता है जिनकी मिलीजुली बिक्री 9 बड़े देशों को छोड़कर विश्व के सभी देशों के सकल राष्ट्रीय उत्पादन (GNP) से ज्यादा है। इनकी कुल सालाना टर्नओवर 7100 ट्रिलियन डॉलर बन जाती है जो कि विश्व की 80 प्रतिशत आबादी की आमदनी से अधिक है जो कि 3900 ट्रिलियन डालर ही बनती है। फिर भी इन कार्पोरेशनों में विश्व की 1 प्रतिशत आबादी के एक तिहाई से भी कम लोग कार्यरत हैं। इन 200 राष्ट्रपारीय कार्पोरेशनों (TNCs) में से 98 प्रतिशत के सदर मुकाम सिर्फ 8 देशों में हैं। इन 8 देशों में यह कार्पोरेशन कानूनी तौर पर रजिस्टर्ड हैं। इनके बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स 8 विकसित पूँजीवादी देशों में बैठते हैं। इनके बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स में से सिर्फ 2 प्रतिशत गैर-राष्ट्रीय (Non National) हैं। इनके कुल तकनोलॉजीकल विकास का 85 प्रतिशत उदभव इनके राष्ट्रों की हदों में होता है। इनकी पहुँच वैश्विक है पर इनकी सम्पत्ति तथा मलकीयत का सुस्पष्ट राष्ट्रीय आधार है। (Atilio A Boron, Empire and Imperialism, page 46, Zed Book, 2005)

ऐज़ाज़ अहमद ने उपरोक्त निबन्ध 2004 में लिखा था, लेकिन तीन वर्ष बाद ही अपने उपरोक्त लेख की अवस्थितियों से खिसकना शुरू कर दिया। इसकी वजह बना फरवरी, 2007 में रूसी राष्ट्रपति व्लादीमीर पुतिन द्वारा म्यूनिख में हुए सुरक्षा सम्मेलन में दिया गया भाषण। इस सम्मेलन में विश्व के विभिन्न देशों के 250 बड़े नेता और अधिकारी शामिल थे। वैसे तो रूस पहले भी विश्व में अमेरिकी वर्चस्व के खिलाफ़ बुदबुदाता रहा था, लेकिन अपनी बुरी आर्थिक स्थिति के कारण उसने कभी भी इसका तीखा विरोध नहीं किया। जैसे ही रूस अपनी अन्दरूनी समस्याओं से उभरा, उसने अन्तर्राष्ट्रीय मंचों से अमेरिकी वर्चस्व का तीखे सुर में विरोध करना शुरू कर दिया। म्यूनिख सम्मेलन ऐसा पहला अवसर था। इस भाषण में पूतिन ने यूरोप को उत्तर आन्टलान्टिक सन्धि संगठन (NATO) के पूर्व की तरफ विस्तार के खिलाफ़ चेतावनी दी और इसे ''एक गम्भीर भड़काऊ कारक'' बताया। पूतिन ने कहा कि अमेरिका द्वारा विकसित की गयी विश्व व्यापी मिसाईल हिफ़ाज़त व्यवस्था (Global Missile Defence System) और रूसी परमाणु हथिआरों को बेअसर (Neutralise) करने के लिए अमेरिका द्वारा यूरोप में लगाए जा रहे मिसाईल इन्टरसेप्टर ''अपरिहार्य हथियार की होड़ के एक और चक्र'' को जन्म देंगे। पूतिन ने कहा कि ब्रिक्स (BRICS, ब्राजील, रूस, चीन, भारत, दक्षिण अफ्रीका) का सकल घरेलू उत्पादन यूरोपीयन यूनियन से भी अधिक है। इस बात को नतीजे तक पहुँचाते हुए पूतिन ने भविष्यवाणी की, ''इसमें कोई शक नहीं कि नज़दीक भविष्य में शक्ति के नए केन्द्रों की आर्थिक सम्भावना (Potential) अपरिहार्य रूप से राजनीतिक शक्ति में बदल जाएगी।'' बाद का विश्व घटनाक्रम पूतिन की भविष्यवाणी की दिशा में ही आगे बढ़ा है। इसकी अधिक चर्चा थोड़ा आगे चलकर करेंगे।

अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर पूतिन की इस अमेरिकी वर्चस्व विरोधी ललकार ने "साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा के अन्त", 'अति-साम्राज्यवाद' की आमद के कई सिद्धान्त-निर्माताओं के पैरों तले जमीन खिसका दी। ऐज़ाज़ अहमद भी इनमें शामिल हैं। भले ही वह अभी भी पुरानी अवस्थिति पर कायम हैं। उनका कहना है कि 'साम्राज्य का सूर्यास्त' (Imperial Sunset) भविष्यवाणी करते समय सावधान रहना चाहिए। क्योंकि अभी भी अमेरिका विश्व की सबसे बड़ी आर्थिक और सैन्य शक्ति है। लेकिन उन्हें इतना जरूर मानना पड़ा, ''एक महाशक्ति के तौर पर अमेरिका के उत्थान के बाद पहली बार विश्व भर में इसके वर्चस्व को गम्भीर खतरे का सामना करना पड़ रहा है।'' अब ऐज़ाज़ अहमद से यह प्रश्न पूछना बनता है कि कि अगर विश्व स्तर पर पूँजी का एकीकरण हो चुका है तो राजनीति में इसका इज़हार क्यों नहीं हो रहा?

आखिर राजनीति अर्थनीति का ही तो सघन इज़हार होती है। अगर विश्व स्तर पर पूँजी का एकीकरण हो चुका है तो विश्वव्यापी अमेरिकी वर्चस्व को ''गम्भीर खतरे'' का स्रोत क्या है?

वास्तव में ऐज़ाज़ अहमद जैसे बुद्धिजीवियों की समस्या यह है कि उन्होंने दुनिया को जिस तरह से समझा, दुनिया उस प्रकार की थी ही नहीं। उन्होंने परिघटनात्मक (Phenomenal) हकीकत को ही सारभूत (Essential) हकीकत समझ लिया। उन्होंने परिघटनात्मक, अल्पकालिक हकीकत को ही चिरकालिक हकीकत घोषित कर दिया।

जहाँ तक साम्राज्यवाद के बारे में प्रभात पटनायक के विचारों का सम्बन्ध है तो सार रूप में उनके विचार ऐज़ाज़ अहमद से मिलते-जुलते हैं। उनका कहना है कि विभिन्न राष्ट्रीय स्रोतों, जिनमें तीसरी दुनिया के देश भी शामिल हैं, की वित्तीय पूँजी मिलकर आज की ''अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय पूँजी'' अस्तित्व में आ चुकी है, जो अपने हितों को आगे बढ़ाने के लिए पूरी धरती पर घूमती है, जिसके कोई खास राष्ट्रीय हित नहीं हैं। अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा का खात्मा इस अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय पूँजी के हित में हैं।

लेकिन इस ''अन्तर्राष्ट्रीय एकता'' के बावजूद भी वह साम्राज्यवादी देशों (पूँजीवादी ताकतों) के बीच अन्तर्विरोधों का अस्तित्व मानते हैं और विश्व व्यापार में तीखे मुकाबले और मुद्रा युद्धों को इन अन्तर्विरोधों के इज़हारों को तौर पर पेश करते हैं। लेकिन वह यह नहीं बताते कि इन अन्तर्विरोधों का स्रोत क्या है?

उनका कहना है कि ये अन्तर्विरोध दूर-दूर तक विकसित पूँजीवादी देशों में खुले युद्धों या यहाँ तक कि छद्म युद्धों (Proxy Wars) में नहीं फूटेंगे। माओ के शब्दों में कहना हो तो प्रभात पटनायक अन्तर-साम्राज्यवादी अन्तर्विरोधों को मित्रतापूर्ण अन्तर्विरोधों के दायरे में रखते हैं और यह गैर-वैज्ञानिक दावा करते हैं कि मित्रतापूर्ण अन्तर्विरोध कभी भी शत्रुतापूर्ण अन्तर्विरोध में नहीं बदलेगा।

उनका यह भी कहना है कि लेनिन का कथन कि साम्राज्यवाद युद्धों को जन्म देता है, आज भी उतना ही प्रासंगिक है जितना कि लेनिन के समय था। लेकिन उनका कहना है कि अब साम्राज्यवादी देशों के बीच विश्व युद्ध नहीं होंगे, लेकिन ''साम्राज्यवाद की परिघटना'' में से इराक, अफगानिस्तान, बालकन जैसे युद्ध जन्म ले रहे हैं। (देखें - Notes on Contemporary Imperialism by Prabhat Patnaik)

आज की विश्व अर्थव्यवस्था के बारे में कुछ ऐसे ही दावे किसी समय यू.एस.ए. के श्रम सचिव रहे राबर्ट राइख (Robert Reich) ने भी किए हैं। उनका कहना है कि, ''जिस तरह उत्पादन का हर एक उपादान - मुद्रा, टेकनालॉजी, फैक्ट्रियाँ, उपकरण बिना किसी प्रयत्न के सरहदों के पार जाते हैं, इसमें राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का विचार ही बेमतलब होता जा रहा है। ''भविष्य में'' न तो राष्ट्रीय उत्पाद या टेकनालॉजी होंगे, न राष्ट्रीय कार्पोरेशन होंगे, न राष्ट्रीय उद्योग। न ही यहाँ राष्ट्रीय अर्थव्वयस्थाएँ होंगी। कम से कम हम जिस रूप में इस अवधारणा से परिचित हैं।" (Quoted in Michael Hartd, Antonio Negri, Empire, Havard University press 2016, page -51) राबर्ट राइख अंश को संपूर्ण बनाकर आज की विश्व अर्थव्यवस्था की सच्चाई पर पर्दा डाल रहे हैं। पहली बात तो यह है कि उत्पादन के कारकों में से एक अहम कारक श्रमिकों की विश्वव्यापी आवाजाही पर तरह तरह के प्रतिबन्ध हैं। इसका वैश्वीकरण नहीं हुआ है। यहाँ तक टैकनालॉजी के बिना किसी प्रत्यन के सरहहों के आर पार जाने का प्रश्न है तो हम जानते हैं कि आज के विश्व में बेहतरीन, नवीनतम टेकनालॉजी पर हमेशा साम्राज्यवादी देशों का कबजा रहता है। पिछड़े पूँजीवादी देशों की तरफ जो भी टेकनालॉजी जाती है वह आम तौर पर पुरानी पड़ चुकी (obsolete) होती है। राबर्ट राइख द्वारा गिनाए गए उत्पादन के उपादानों में से एक मुद्रा ही है जो सर्वाधिक मोबाइल है।

सन् 2001 में Michael Hardt और Antonio Negri की सुप्रसिद्ध पुस्तक Empire प्रकाशित हुई। इस पुस्तक के लेखकों का कहना है कि पिछले कुछ दशकों में पुराने साम्राज्यवाद का स्थान साम्राज्य (Empire) ने ले लिया

है। इस साम्राज्य में प्रभुत्वशाली आर्थिक तथा राजनीतिक सम्बन्ध राष्ट्रीय पूँजीवादी ताकत से जुड़े हुए नहीं हैं बल्कि पूँजीवाद के राष्ट्रीय संगठन को ऐसे सम्बन्धों में रूपान्तरित कर दिया है जो कि राष्ट्रपारीय स्तर पर कार्यरत होते हैं। वे इस नतीजे पर पहुँचते हैं, ''हमारी बुनियादी परिकल्पना यह है कि प्रभुसत्ता के नये सामराजी रूप का उदय हो चुका है...। न तो संयुक्त राज और न ही कोई अन्य राष्ट्र राज्य सामराजी परियोजना का केन्द्र निर्मित कर सकता है। साम्राज्यवाद खत्म हो चुका है। विश्व का कोई भी राष्ट्र नेता नहीं बन सकेगा जैसा कि आधुनिक युरोपीय राष्ट्र हुआ करते थे।'' (Hardt, Negri, उक्त पन्ना नं – xiii-xiv)

लेखकों का दावा है कि पूँजीवादी उत्पादन तथा इसकी वैश्विक मण्डी बुनियादी तौर पर नयी परिस्थिति तथा एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक परिवर्तन (Shift) है। पूँजीवाद को सार्वभौमिक बनाने वाले आयाम ने आज के पूँजीवादी उत्पादन तथा सत्ता (Power) के सम्बन्ध में एक परिवर्तन (Shift) को जन्म दिया है। आज की दुनिया में वैश्विक शक्ति सम्बन्धों में बड़ा बदलाव हो चुका है। आज की दुनिया इस तरह की नहीं है जिसमें प्रभुत्वशाली पूँजीवादी राष्ट्र राज्यों पर साम्राज्यवादी प्रभुत्व जमा रहे हों। लेखकों का दावा है, ''हमारा सोचना है कि इस पर गौर करना महत्वपूर्ण है कि जो बहुत सी साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच मुकाबला या टकराव हुआ करता था उसे एक ताकत के विचार ने प्रतिस्थापित कर दिया है जो इन सभी को अतिनिर्धारित (Overdetermine) करती है, एकल रूप (Unitary Way) में उन्हें ढालती है तथा उन्हें न्याय की सांझा धारणा के मातहत मानती है। जो कि निर्णायक रूप से उत्तरऔपनिवेशिक तथा उत्तर साम्राज्यवादी है।'' (उपरोक्त पन्ना- 9)

आगे चलकर लेखक कहते हैं कि, ''साम्राज्यवादी, अन्तर-साम्राज्यवादी तथा साम्राज्यवाद विरोधी युद्धों का इतिहास खत्म हो चुका है। इतिहास के अन्त का शान्ति के शासन में प्रवेश हुआ है। और सच में हम छोटे मोटे आन्तरिक झगड़ों के युग में दाखिल हो चुके हैं।" (उक्त पन्ना – 189, अनुवाद हमारा)

अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा को खारिज करने वाले दो अन्य सुप्रसिद्ध लेखक हैं लियो पेनिच (Leo Penitch) तथा सैम गिण्डन (Sam Gindin)। इन्होंने अपने लेख 'ग्लोबल कैपिटलिज्म एंड अमेरिकन एंपायर' में आज के साम्राज्यवाद के बारे में अपने विचारों का खुलासा किया है। इन लेखकों का मानना है, ''वामपंथ को साम्राज्यवाद के नये सिद्धान्त की जरूरत है, जो अन्तर-साम्राज्यवदी प्रतिस्पर्धा के पुराने मार्क्सवादी 'मंजिलवादी' (Stagist) सिद्धान्त की सीमाओं से आगे जाएगा तथा उन उपादानों, जिनकी बदौलत एक अनन्य अमेरिकी अनौपचारिक साम्राज्य (Informal American Empire) निर्मित हुआ है, को पूरी तरह संज्ञान में लेगा।'' (Leo Panitch and Sam Gindin, Global Capitalism and American Empire, Socialist register, 2004, प्रष्ठ- 4, अनुवाद हमारा)

''हाबसन से लेकर लेनिन तक साम्राज्यवाद के क्लासिकल सिद्धान्त जो उस समय (पिहले विश्व युद्ध के आस पास-लेखक) विकसित हुए, संकट तथा पूँजीवादी आर्थिक मंजिलों के सैन्द्धातिकीकरण पर आधारित थे। क्लासीकल सिद्धान्त साम्राज्यवाद के ऐसिहासिक पाठ, पूँजी संग्रह की गतिकी को समझते तथा **अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा** के सन्धिबिन्दुबद्ध क्षण (Conjuctural Moment) **को पूँजीवादी वैश्वीकरण के एक न बदलने वाले नियम तक उँचा उठा देने के मामले में गलत थे ।** (उपरोक्त, पृष्ठ-5, अनुवाद तथा शब्दों पर जोर हमारा)। आगे चलकर लेखक काउत्सकी के अतिसाम्राज्यवाद के सिद्धान्त सही होने की घोषणा कर देते हैं। उनका कहना है, ''काउत्सकी यह देखने में सही था कि भले ही यहाँ तक कि अन्तर-साम्रज्यवादी प्रतिस्पर्धा ने मुख्य पूँजीवादी शक्तियों में युद्ध को जन्म दिया, लेकिन यह पूँजीवादी वैश्वीकरण का अपरिहार्य लक्षण नहीं है। . . . काउत्सकी का मानना था कि सभी मुख्य पूँजीवादी शासक वर्ग, विश्व युद्ध से सबक सीखने के बाद जरूर ही सहयोगपूर्ण (collaborative) 'अति साम्राज्यवाद' के माध्यम से पूँजीवादी विश्वीकरण को पुन:जीवित करेंगे।'' (उक्त पृष्ठ 9, अनुवाद हमारा)

आगे चलकर हम देखेंगे कि किस तरह इन लेखकों का विश्लेषण तथा नतीजे आज की दुनिया की जमीनी हकीकतों से दूर हैं।

उक्त तमाम लेखकों के आज के साम्राज्यवाद के बारे में विचार सार में एक ही हैं, यह साम्राज्यवाद के काउत्स्कीपंथी सिद्धान्त का ही नया संस्करण हैं। यह आज के विश्व की जमीनी हकीकतों से दूर है। आज के साम्राज्यवाद को सिर्फ लेनिनवादी सिद्धान्त के आधार पर ही सही ढंग से समझा जा सकता है। इस सिद्धान्त से हर विचलन हमें गलत राह पर ले जाएगा।

लेकिन क्या फिर दुनिया 1916 में (जब लेनिन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'साम्राज्यवाद, पूँजीवाद की चरम अवस्था' लिखी थी) पर ही रुक गई है? क्या उसके बाद साम्राज्यवाद की कार्यप्रणाली में कोई परिवर्तन आए हैं? निश्चित ही ये परिवर्तन आए हैं और इससे इनकार करना कठमुल्लापन होगा और ऐसे कठमुल्लों की कमी नहीं है, जो आज की दुनिया को 1916 के चश्मों से देखने के आदि हो चुके हैं। जिनके लिए 1916 के बाद साम्राज्यवाद की कार्यप्रणाली में परिवर्तनों की बात करना लेनिनवाद से गद्दारी के समान है। साम्राज्यवाद के प्रश्न पर दो विपरीत ध्रुवों के भटकाव मौजूद हैं। जहाँ ऐज़ाज़ अहमद, प्रभात पटनायक, तथा अन्य 'मुक्त चिन्तक' आज की दुनिया में लेनिन के साम्राज्यवाद के सिद्धान्त को सिरे से ही खारिज़ करते हैं, वहाँ कठमुल्ले लेनिन के समय के बाद साम्राज्यवाद की कार्यप्रणाली में किसी भी प्रकार के परिवर्तन से इंकार कर देते हैं। भारत के मार्क्सवादी-लेनिनवादी ग्रुपों में ऐसे कठमुल्लों की भरमार है।

लेनिन के समय और खासतौर पर दूसरे विश्व युद्ध के बाद साम्राज्यवाद की कार्यप्रणाली में जो सबसे बड़ा परिवर्तन आया है वह था उपनिवेशवाद का इसके सारे रूपों (उपनिवेशो, अर्ध-उपनिवेशों व नव-उपनिवेशों) का खात्मा। उपनिवेशवाद का खात्मा साम्राज्यवादियों की चाहत या उनकी दरियादिली की उपज नहीं था, बल्कि उपनिवेशों, अर्ध-उपनिवेशों और नव-उपनिवेशों की जनता की कुर्बानियों भरी जद्दोजहद ने साम्राज्यवादियों को औपनिवेशिक नीति से पीछे हटने के लिए मज़बूर किया। साथ ही, द्वितीय विश्व युद्ध के बाद उभरे साम्राज्यवाद के नये चौधरी अमेरिका के लिए नये विश्व ऐतिहासिक सन्धि बिन्दु पर उपनिवेश रहित साम्राज्यवाद का अस्तित्व रूप (modus vivendi) अधिक उपयुक्त था।

कठमुल्ला लोग साम्राज्यवाद को उपनिवेशवाद का पर्यायवाची बना देते हैं। जबकि उपनिवेश पूँजीवाद के साम्राज्यवाद की अवस्था में विकसित होने से पहले भी मौजूद थे। हाँ, यह बात अलग है कि साम्राज्यवादी उपनिवेशवादी नीति, स्वतंत्र प्रतियोगिता वाले पूँजीवाद से भिन्न है और यह भी कि स्वतंत्र प्रतियोगिता के पूँजीवाद के साम्राज्यवाद में विकसित होने के बाद साम्राज्यवादियों द्वारा उपनिवेशों पर कब्जों में तेज़ी आई थी। लेनिन ने भी कई जगह इस बात का जिक्र किया है कि साम्राज्यवाद के युग में भी साम्राज्यवाद पर आर्थिक तौर पर निर्भर लेकिन राजनीतिक तौर पर स्वतंत्र देशों का अस्तित्व हो सकता है। लेनिन ने लिखा है, ''**चूँकि हम पूँजीवादी साम्राज्यवाद के युग की औपनिवेशिक नीति की चर्चा कर रहे हैं, इसलिए यह बता दिया जाना चाहिए कि वित्तीय पूँजी और तदनुरूप ही वैदेशिक नीति, जो दुनिया के आर्थिक तथा राजनीतिक बँटवारे के लिए बड़ी ताकतों का संघर्षमात्र बनकर रह जाती है, राज्यों के पराधीनता के अनेक संक्रमणकालीन रूपों को जन्म देती हैं। देशों के दोनों मुख्य समूह ही - उपनिवेशों के मालिक और उपनिवेश ही - इस युग की लाक्षणिकताओं का प्रतिनिधित्व नहीं करते, बल्कि पराधीन देशों के वे विविध रूप भी इन लाक्षणिकताओं के द्योतक हैं, जो कहने को तो राजनीतिक रूप में स्वतन्त्र हैं, पर वास्तव में वित्तीय तथा राजनयिक पराधीनता के जाल में फँसे हुए हैं।**'' (साम्राज्यवाद, पूँजीवाद की चरम अवस्था, पृष्ठ- 87)

आगे लेनिन लिखते हैं, **''राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ वित्तीय तथा राजनयिक पराधीनता का इससे कुछ भिन्न रूप पुर्तगाल के उदाहरण में देखने को मिलता है। पुर्तगाल एक स्वतन्त्र प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य है, पर वास्तव में दो सौ वर्ष से अधिक मुद्दत से, स्पेनी उत्तराधिकार-युद्ध (1701-1714) के बाद से, वह ब्रिटेन का संरक्षित राज्य रहा है।''** (उपरोक्त, पृष्ठ – 88, शब्दों पर ज़ोर हमारा)

एक अन्य जगह लेनिन लिखते हैं, ''एक देश की बड़ी वित्तीय पूँजी, **राजनीतिक तौर पर आज़ाद**, देश के अपने विरोधियों को सदा खरीद सकती है और वह लगातार ऐसा करती है। आर्थिक तौर पर यह **पूरी तरह** प्राप्य है। **राजनीतिक कब्जे के बिना भी आर्थिक ''कब्ज़ा'' पूरी तरह ''प्राप्य'' है** और वास्तव में बड़े पैमाने पर लागू होता है। साम्राज्यवाद सम्बन्धी साहित्य में आप इस तरह के काफी संकेत देखेंगे कि, मिसाल के तौर पर, अर्जनटीना वास्तव में ब्रिटेन का ''वाणिज्यिक उपनिवेश'' है, या कि पुर्तगाल वास्तव में ब्रिटेन का ''गुलाम'' है आदि। वास्तव में ऐसा ही है, इन देशों का ब्रिटेन के बैंकों पर आर्थिक तौर पर निर्भर होना, उन पर ब्रिटेन का कर्जा चढ़ना, उनकी रेलों, खदानों, जमीनों आदि का ब्रिटेन के हाथ में चला जाना, इन सब की बदौलत ब्रिटेन **उनकी राजनीतिक आज़ादी की उलण्घना किए बिना उन पर आर्थिक रूप से ''कब्जा'' कर सकता है।**

राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का मतलब है राजनीतिक आज़ादी। साम्राज्यवाद जिस तरह जनवाद की जगह कुलीनतंत्र को स्थापित करने की कोशिश करता है, क्योंकि राजनीतिक कब्जा आर्थिक कब्जे को अधिक आसान बना देता है और वह महँगा भी कम पड़ता है (अफ़सरों को रिश्वित देकर अपनी तरफ कर लेना, रियायतें हासिल करना, फायदेमन्द कानून बनाना अधिक आसान हो जाता है), यह अधिक सुविधाजनक है और इसमें झंझट भी कम है। लेकिन साम्राज्यवाद के तहत आत्मनिर्णय की **आर्थिक तौर पर** ''अप्राप्यता'' की बात करना कोरी बकवास है।'' (ऑन इम्पीरियलिज़म ऐण्ड इम्पीरियलिस्टज़, प्रोग्रेस पब्लीशर्ज़, मास्को, 1997, पृष्ठ-91, ''पूरी तरह'' और ''आर्थिक तौर पर'' के अलावा बाकी शब्दों पर ज़ोर हमारा)

इसी पुस्तक में लेनिन आगे लिखते हैं, ''नार्वे ने 1905 में प्रचण्डतम साम्राज्य के युग में आत्मनिर्णय का अधिकार ''प्राप्त'' किया। इसीलिए ''अप्राप्यता (Unachievability)'' की बात करना सिद्धान्तक तौर पर बेतुका ही नहीं, हास्यास्पद भी है...

1905 में नार्वे ने जिस आज़ादी को ''प्राप्त'' किया, वह राजनीतिक आज़ादी थी। उससे नार्वे की आर्थिक निर्भरता में कोई फर्क नहीं पड़ सकता था, न ही यह लक्षय रखा गया था। हमारे थीसिस में ठीक यही बात कही गई है।'' (उपरोक्त, पृष्ठ 94, 94-95)

लेनिन के समय आर्थिक तौर पर निर्भर, लेकिन राजनीतिक तौर पर आज़ाद देश जो कि एक गौण प्रवृति के रूप में मौजूद थे, दूसरे विश्व युद्ध के बाद विऔपनिवेशिकीकरण की एक क्रमिक प्रक्रिया में यह प्रमुख रुझान बन गया।

जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं कि उपनिवेशों का खात्मा साम्राज्यवादियों की चाहत नहीं थी। बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में उठे राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनों के तूफान (जिनका नेतृत्व कई जगह कम्युनिस्ट पार्टियों ने किया, जैसे कि चीन) ने साम्राज्यवाद को औपनिवेशिक नीति से पीछे धकेला। पहले सोवियत यूनियन और फिर अस्तित्व में आए एक शक्तिशाली समाजवादी शिविर ने राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनों की बेगरज मदद की।

ऊपर हमने लेनिन की साम्राज्यवाद की परिभाषा दी है, उसमें लेनिन द्वारा बताई गई साम्राज्यवाद की पाँच विशेषताओं में से पाँचवी विशेषता में महत्वपूर्ण बदलाव आया है। उपनिवेशों के लिए भले नहीं लेकिन अपने-अपने रसूख के क्षेत्रों के लिए साम्राज्यवादियों में प्रतिस्पर्धा आज भी ज़ारी है।

साम्राज्यवादियों की इस प्रतिस्पर्धा के विश्वयुद्ध में फूट पड़ने की सम्भावनाएँ अब कम हैं। उपनिवेशवाद का खात्मा और फिर परमाणु हथियारों की मौजूदगी ऐसे कारक हैं, जो साम्राज्यवादियों को विश्व युद्ध जैसे युद्ध में उलझने से रोकते हैं। लेकिन क्षेत्रीय युद्धों के रूप में अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा न सिर्फ जारी है, बल्कि दिन-ब-दिन तीखी हो रही है।

आइए, अब आज की दुनिया में ज़ारी अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा की ज़मीनी हकीकतों की तरफ लौटते हैं। समूची तीसरी दुनिया ही और खासतौर पर मध्यपूर्व व भूतपूर्व सोवियत गणराज्य (विशेषतः यूक्रेन) अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा के मुख्य अखाड़े बने हुए हैं। यह प्रतिस्पर्धा मुख्य रूप से रूसी और अमेरिकी साम्राज्यवाद के बीच जारी है। दूसरी तरफ, यूरोपीय यूनियन और जापान आदि साम्राज्यवादी धुरियाँ भी फिर उठ रही हैं और विश्व में अपने-अपने रसूख के क्षेत्रों के फैलाव की दौड़ में शामिल हो रहे हैं।

पतनशील अमेरिकी साम्राज्यवाद: इसके विश्व वर्चस्व के लिए चुनौती के रूप में उभर रहीं साम्राज्यवादी धुरियाँ

दूसरे विश्व युद्ध से लगभग दूर रहने, पश्चिमी यूरोप और जापान की तबाही से मिले पूँजी निवेश के अथाह अवसरों के कारण, अमेरिकी साम्राज्यवाद की आर्थिक शक्तिमत्ता का अभूतपूर्व विस्तार हुआ। 1991 में अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा में इसके मुख्य प्रतिद्वन्दी सोवियत यूनियन के बिखरने के बाद अस्थाई तौर पर इसका चुनौती रहित विश्व वर्चस्व कायम हुआ। इस परिस्थिति में अमेरिकी साम्राज्यवाद ने विश्व पुलिसिए की भूमिका निभानी शुरू कर दी। आज की तारीख में अमेरिका विश्व की सबसे बड़ी आर्थिक व सैन्य शक्ति है। लेकिन अमेरिका की इस आर्थिक और सामरिक ताकत को इसके प्रतिद्वन्दियों की ओर से लगातार चुनौती मिल रही है। इसके लिए एक तो अमेरिका की भीतरी समस्याएँ जिम्मेवार है और दूसरा इसके प्रतिद्वन्दियों की बढ़ती आर्थिक ताकत।

साम्राज्यवादी विश्व व्यवस्था में बड़े परिवर्तन हो रहे हैं। इन परिवर्तनों में सबसे महत्वपूर्ण विश्व आर्थिक शक्ति की बँटवारे में आया परिवर्तन है। ऐसी आर्थिक और भू-राजनीतिक शक्तियों का उभार, यानि देशों के ऐसे गुटों का उभरना जिनकी अमेरिकी साम्राज्यवाद के विश्व वर्चस्व को चुनौती देने की क्षमता लगातार बढ़ती रही है। इनमें कई गुट (और देश) अपने उभार के अभी प्राथमिक चरण में हैं।

डॉलर की विशेषाधिकार प्राप्त भूमिका पर आधारित विश्व वित्तीय सरंचना (Architecture) लगातार अस्थिर और कमज़ोर होती जा रही है। अमेरिकी साम्राज्यवाद की आर्थिक शक्ति लगातार क्षरित हो रही है। इस पृष्ठभूमि में यह अपना विश्व वर्चस्व बरकरार रखने के लिए हाथ-पैर मार रहा है। लेकिन शक्ति के नए केन्द्रों के उभरने से अमेरिका के विश्व वर्चस्व में आई दरारें लगातार चौड़ी होती जा रही हैं। ये दरारें इन कारकों के चलते उभर रही हैं –

- चीन का तेज़ी के साथ एक आर्थिक शक्ति के रूप में उभरना और तीसरी दुनिया के, जैसे कि पूर्वी एशिया, मध्य एशिया और अन्य रणनीतिक क्षेत्रों में इसके प्रभाव का विस्तार।
- मध्य यूरोप और पूर्वी यूरोप में विस्तार के साथ यूरोपीय यूनीयन का मज़बूत होना, यूरो के इर्द-गिर्द एकसमान मुद्रा जोन का बनना, जो कि अमेरिका के डॉलर के वर्चस्व को आर्थिक चुनौती दे रहा है।
- रूसी साम्राज्यवाद का पुनरुत्थान, जो कि पश्चिमी यूरोप और विशेष तौर पर अमेरिकी साम्राज्यवाद के लिए मुख्य चुनौती के रूप में उभर रहा है। यह विशाल उर्जा के भण्डार वाले मध्य एशिया में अपने पैर पसार रहा है, दुनिया की बड़ी आर्थिक शक्ति के रूप में उभर रहे चीन के साथ रणनीतिक साझेदारी बढ़ा रहा है और अमेरिकी साम्राज्यवाद की आँख की किरकिरी वेनेजुएला, ईरान जैसे देशों को आधुनिक हथियार और उच्च टेकनालॉजी की मदद मुहैया करवा रहा है।

- दूसरी तरफ अमेरिकी साम्राज्यवाद अपनी अर्थव्यवस्था के वित्तीयकरण और सैन्यकरण की बुनियाद पर आने वाले दशकों में अपने विश्व वर्चस्व को कायम रखने की कोशिश कर रहा है। इससे मैन्यूफेक्चरिंग और शेष अर्थव्यवस्था के सापेक्ष वित्तीय क्षेत्र में विस्फोटक वृद्धि होगी, आर्थिक अस्थिरता और सट्टेबाज़ी बढ़ेगी।
- कच्चे माल, खास तौर पर उर्जा के स्रोतों, जिनकी बड़ी औद्योगिक शक्तियों द्वारा माँग बढ़ रही है, लेकिन पूर्ति सिकुड़ रही है, के लिए साम्राज्यवादी शक्तियों में मुकाबला तीखा हो रहा है।

विश्व अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण परिवर्तन : अमेरिकी ताकत का क्षरण

दूसरे विश्वयुद्ध की समाप्ति से समय विश्व के सकल घरेलू उत्पादन में अमेरिका का हिस्सा लगभग 50 प्रतिशत था। वैश्विक मैन्यूफेक्चरिंग क्षमता में इसके हिस्सेदारी और भी अधिक थी। यह दूसरे विश्व युद्ध का नतीजा था, जिसमें अमेरिकी साम्राज्यवाद बड़ी शक्ति बनकर उभरा, जबकि जापान और पश्चिमी यूरोप के साम्राज्यवादी देशों की अधिकतर उत्पादन क्षमता तबाह हो गई।

लेकिन 1960 आते-आते वैश्विक सकल घरेलू उत्पादन में अमेरिका का हिस्सा घटकर 30 प्रतिशत रह गया और 2013 में यह और घटकर 18.619 प्रतिशत रह गया। 1968-71 के वर्ष अमेरिकी साम्राज्यवाद की आर्थिक शक्ति के सापेक्षिक क्षरण में एक तरह से मोड़-बिन्दु थे, जब डॉलर-गोल्ड स्टेंडर्ड का त्याग किया गया और आर्थिक क्षेत्र में यूरोपीय चुनौती बढ़ने लगी। 1980 के दशक में जापान का एक औद्योगिक-वित्तीय प्रतिद्वंदी के तौर पर और पूँजी के एक बड़े निर्यातक के तौर पर उत्थान, विश्व अर्थव्यवस्था में अमेरिकी वर्चस्व के लिए एक अन्य बड़ी चुनौती था।

1976 में कामरेड माओ की मौत के बाद चीन में देंग के संशोधनवादी गिरोह के नेतृत्व में पूंजीवादी पुनर्स्थापना हो गयी। समाजवादी चीन अब पूँजीवादी चीन में परिवर्तित हो गया। डेंग गिरोह ने चीन के आगे के विकास को पूँजीवादी मार्ग पर आगे बढ़ाया। पूँजीवादी चीन एक बड़ी आर्थिक शक्ति बनकर उभरा। यह एक अलग बात है कि चीन के पूँजीवादी राह पर विकास के फल मुट्ठी भर शोषकों को ही मिले हैं। यहाँ की मेहनतकश जनता को दुख, मुसीबतें, लूट, दमन ही मिला है। 1949-76 तक समाजवादी चीन की आर्थिक वृद्धि दर चमत्कारी थी। 1976 के बाद पूँजीवादी मार्ग पर हुए विकास से इसकी बुनियादी भिन्नता यह थी कि समाजवादी चीन में आर्थिक विकास क्षेत्रीय और अन्तरवैयक्तिक असामनताओं को खत्म कर रहा था। जबकि 1976 के बाद यह दिशा बुनियादी तौर पर बदल गई। 1976 के बाद चीन में जो पूँजीवादी विकास हुआ, उसने चीन में सब तरह की असमानताओं को विस्फोटक हद तक बढ़ा दिया है।

आज की साम्राज्यवादी विश्व व्यवस्था में चीन का एक आर्थिक शक्ति के तौर पर उत्थान अमेरिकी साम्राज्यवाद के लिए एक बड़ी चुनौती है। वैश्विक सकल घरेलू उत्पादन में इसका हिस्सा अमेरिका के हिस्से से थोड़ा ही कम है। आज अमेरिका के बाद चीन विश्व की दूसरी बड़ी अर्थव्यवस्था के रूप में उभरा है।

चीन की अर्थव्यवस्था विश्व की दूसरी सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था है। विश्व मैन्यूफेक्चरिंग की धुरी और विश्व पूँजी के ठिकाने के तौर पर, विश्वव्यापी संचय की प्रक्रिया में इसकी केन्द्रीय भूमिका बनी हुई है। निर्यातों से बड़ी कमाई करके इसका केन्द्रीय बैंक विश्व का सबसे बड़ा विदेशी मुद्रा भंडार का धारक बन चुका है। पूर्वी एशिया में इसका प्रभाव लगातार बढ़ रहा है। पूर्वी एशिया ही नहीं बल्कि विश्व के अन्य क्षेत्रों, खासकर अफ्रीका, दक्षिणी अमेरिका में भी इसका प्रभाव फैल रहा है। चीन अपनी सामरिक ताकत भी लगातार बढ़ा रहा है। ये सभी कारक मिलकर विश्व अर्थव्यवस्था पर और भू-राजनीति पर काफ़ी असर डाल रहे हैं। आने वाले दिनों में चीन के एक साम्राज्यवादी शक्ति को तौर पर विश्व पटल पर उभरने की प्रचुर सम्भावनाएँ मौजूद हैं। अमेरिका का औद्योगिक उत्पादन या तो गतिरोध का शिकार है या फिर इसकी वृद्धि दर बहुत मामूली है। इसके सकल घरेलू उत्पादन की स्थित भी यही है। (देखे तालिका 1 और 2)

तालिका – 1 (विश्व मेनूफेक्चरिंग उत्पादन की अंदाजन वृद्धि दर (प्रतिशत) 2014 की दूसरी तिमाही

	विश्व मेनूफेक्चरिंग मुल्य वृद्धि (Manufacture Value Added) 2010	पिछली तिमाही की तुलना में	पिछले वर्ष की उसी अवधि की तुलना में
विश्व	100	-0.5	3.3
औद्योगिकृत अर्थव्यवस्थाएँ	67.3	0.0	1.5
उत्तरी अमेरिका	22.4	1.6	3.7
यूरोप	24.7	0.2	1.4
पूर्वी ऐशिया	32.3	-1.2	6.5
चीन	15.3	-2.2	9.3
उभर रही अर्थव्यवस्थाएँ	13.8	0.7	0.6
अफ्रीका	1.5	1.2	2.7
ऐशिया पैसेफिक	21.7	1.6	7.9
लातिनी अमेरिका	5.8	0.4	1.9

स्रोत – UNIDO Statistics

2007 के अमेरिकी सबप्राईम संकट के बाद विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था एक गहरे आर्थिक संकट में फसी हुई है। बीच-बीच में भले ही इसे अल्पकालिक राहत भी मिलती रही है, लेकिन इसके साथ ही एक और पहले से भी अधिक गहरे आर्थिक संकट का भी आधार तैयार होता रहा है। विश्व बैंक, बैंक ऑफ़ इण्टरनेशनल सेटलमेण्ट आदि साम्राज्यवादी संस्थाएँ और विश्व साम्राज्वायदी व्यवस्था के सेवक अर्थशास्त्री आने वाले दिनों में एक और पहले से भी अधिक गहरे आर्थिक संकट की भविष्यवाणी कर रहे हैं। वर्तमान विश्व पूँजीवादी व्यवस्था के सभी सूचक इस भविष्यवाणी के सही होने की तरफ इशारा कर रहे हैं। अमेरिका और कुछ अन्य अग्रणी साम्राज्यवादी देशों में अर्थव्यवस्था की जो भी थोड़ी-बहुत वृद्धि दर दिखाई दे रही है, वह भी यहाँ की सरकारों द्वारा दिए गए स्टिम्युलस पैकेजों के चलते ही है। नतीजतन, अर्थव्यवस्थाओं का वित्तीयकरण बढ़ रहा है, आर्थिक अस्थिरता बढ़ रही है और इन अर्थव्यवस्थाओं के सिर पर कर्ज के पहाड़ और ऊँचे होते जा रहे हैं।

तालिका – 2

अमेरिका के सकल घरेलू उत्पादन में वृद्धि दर

वर्ष	वृद्धि दर
2010	2.5
2011	1.1
2012	2.8
2013	1.9
2016	1.6

स्रोत – विश्व बैंक

मई 2014 में अमेरिका का कुल बाह्य कर्ज (बाह्य कर्ज का अर्थ है कि कुल सार्वजनिक (सरकारी) और निजी कर्ज जो कि आन्तर्राष्ट्रीय तौर पर प्रवानित मुद्राओं, सेवाओं या वस्तुओं के रूप में भुगतान अनिवासियों (**Nonresidents**) को करना होता है) 14.3 ट्रिलियन डॉलर था जो कि इसके सकल घरेलू उत्पादन का 95 प्रतिशत था। यह विश्व के सभी देशों से बड़ा बाह्य कर्ज था।

प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के बाहर की तरफ बहाव (Outward FDI Flows) में अभी भी अमेरिका का पहला स्थान है। लेकिन अमेरिका से बाहर की ओर किए जा रहे प्रत्यक्ष विदेशी निवेश में कमी आ रही है। जबकि चीन भले ही इस मामले में अमेरिका से काफ़ी पीछे हैं, लेकिन यहाँ से पूँजी का निर्यात लगातार बढ़ रहा है।

नीचे (तालिका-3) वर्ष 2002 और 2013 के दौरान कुछ चुनिन्दा देशों में घटते क्रम में पूँजी के निर्यात के आँकड़े दिए गए हैं।

नीचे तालिका- 3 में पूँजी निर्यात के आँकड़े दिए गए हैं।

तालिका – 3

बाहर की ओर (outward) प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का प्रवाह (मिलीयन डॉलर में)

देश	वर्ष				
	2012	2013	2014	2015	2016
यूरोपीय यूनियन	406575	340011	204344	535957	470351
संयुक्त राज्य अमेरिका	318196	303432	292283	303177	299003
चीन	87804	107844	123120	127560	183100
जपान	122549	135747	124038	128654	145242
फ्रांस	35440	20369	49783	44373	57328
जर्मनी	62164	42271	99519	93283	34558
स्विटज़रलैण्ड	43586	38572	-1057	104007	30648
रूस	28243	70685	64203	27090	27272

स्रोत – WIR 2017

तालिका 3 से देखा जा सकता है कि एक समूह के रूप में यूरोपीय यूनियन 2016 में सबसे बड़ा पूँजी निर्यातक था। अलग-अलग देशों की अगर बात करें तो इसी साल अमेरिका का अग्रणी स्थान (299003 मिलियन डॉलर) था। चीन अन्य साम्राज्यवादी देशों को पीछे छोड़कर पूँजी निर्यात के मामले में 2016 में दूसरे स्थान (183100 मिलियन डॉलर) पर पहुँच गया। रूस का इस मामले में सातवां स्थान है। साल 2012 से साल 2016 तक के आँकड़ों पर गौर करें तो देखा जा सकता है कि चीन को छोड़कर बाकी सभी देशों के पूँजी निर्यात में उतार-चढ़ाव आया है। चीन के पूँजी निर्यात में सतत् बढ़ौतरी दिखाई देती है। साल 2015 के मुकाबले साल 2016 में चीन के पूँजी निर्यात में 44 फीसदी की बढ़ौतरी हुई है। उक्त रिपोर्ट के मुताबिक साल 2016 में अत्यल्प विकसित देशों (Least developed countries) में सबसे बड़ा, निवेशक था। इस मामले में चीन फ्रांस और संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे देशों से काफी आगे था।

पूँजी के निर्यात के मामले में विभिन्न देशों के हिस्से के बदलते अनुपात को जानने के लिए हमें थोड़ा पीछे लौटना पड़ेगा। नीचे तालिका में पूँजी के निर्यात में विभिन्न देशों की हिस्सेदारी से सम्बन्धित आँकड़े दिए गए हैं।

तालिका के विश्लेषण से स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष विदेशी निवेश भण्डार में किसी समय अग्रणी रहे साम्राज्यवादी देशों का हिस्सा लगातार घटता गया है। 1960 में बाहर की ओर (Outward) प्रत्यक्ष विदेशी निवेश में अमेरिका का लगभग आधा हिस्सा था (47.10 प्रतिशत) जो कि 2006 आते-आते घटकर 19.1 प्रतिशत रह गया। दूसरे विश्व युद्ध की तबाही के बाद उभरे जापान और जर्मनी का हिस्सा 1960 के बाद लगातार बढ़ता गया है लेकिन 2006 से घटने का रूझान दिखाई पड़ रहा है। तालिका में दिखाए गए साम्राज्यवादी देशों के बाहर की ओर पूँजी निवेश भण्डार में 1960 में 93 प्रतिशत हिस्सा था, जो कि 2006 में घटकर 69.5 प्रतिशत रह गया। साल 2016 के लिए यह आँकड़ा 56.96 प्रतिशत था (UNCTAD WIR 2017)। इसकी मुख्य वजह पूँजी के निर्यातकों के तौर पर रूस और चीन का उभार ही है।

तालिका –4
बाहर की ओर प्रत्यक्ष विदेशी निवेश भण्डार (Stock) की बाँट 1960–2006 (प्रतिशत)

देश	1960	1975	1990	2006
अमेरिका	47.1	44	23.7	19.1
इंग्लैण्ड	18.3	13.1	12.6	11.9
जर्मनी	1.2	6.5	8.3	8.0
फ्रांस	6.1	3.8	6.0	8.6
नीदरलैण्ड	10.3	7.1	5.8	5.2
कनाडा	3.7	3.7	4.6	3.6
स्विटज़रलैण्ड	3.4	8.0	3.6	4.4
इटली	1.6	1.2	3.3	3.0
स्वीडन	0.6	1.7	2.8	2.1
कुल	93.0	94.8	81.8	69.5

स्रोत – विश्व निवेश रिपोर्ट के विभिन्न अंक

2001 में विश्व की सबसे बड़ी 500 कम्पनियों में से 215 उत्तरी अमेरिका आधारित थीं, 2007 में ये घटकर 167 रह गईं और 2011 में और घटकर 144 रह गईं। यूरोपीय यूनियन आधारित कम्पनियाँ 2001 में 158 थीं, 2007 तक बढ़कर 184 हो गईं और 2011 में घटकर 160 रह गईं। जबकि एशिया आधारित कम्पनियों की संख्या बढ़ती गई है। 2001 में इनकी संख्या 116 थी जो कि 2012 में बढ़कर 188 हो गई।

2014 में फार्चून-500 द्वारा जारी सूची के मुताबिक विश्व की सबसे बड़ी 10 कम्पनियों में से 3 चीन की हैं। फार्चून-500 के मुताबिक ही 2014 की विश्व की सबसे बड़ी 500 कम्पनियों के मामले में अमेरिका पहले स्थान पर था, जबकि चीन दूसरे स्थान पर। 2015 में दुनिया की सबसे बड़ी 500 कम्पनियों में से 128 अमेरिका की थीं और 95 चीन की।

दूसरे विश्व युद्ध के बाद विश्व अर्थव्यवस्था और सैन्य शक्ति के मामले में अमेरिकी साम्राज्यवाद का वर्चस्व कायम रहा है। यह पश्चिमी साम्राज्यवादी गिरोह के निर्विवाद नेता के तौर पर उभरा। 1950 के उत्तरार्ध से यह सोवियत सामाजिक-साम्राज्यवादी शिविर के साथ प्रतिस्पर्धा में उलझा रहा। लेकिन 1991 में सामाजिक-साम्राज्यवादी यूनियन के टूटने के बाद अमेरिकी साम्राज्यवाद के वैश्विक वर्चस्व को यह चुनौती भी खत्म हो गई। अस्थाई तौर पर इस चुनौती-विहीन विश्व में पश्चिमी साम्राज्यवादी गिरोह का सरदार बनकर इसने 'विश्व पुलिसिए' की भूमिका निभानी शुरू कर दी।

दुसरी तरफ इसकी अपनी मुश्किलें भी दिन-ब-दिन बढ़ती गई हैं। 1973 में विकसित पूँजीवादी देशों में मन्दी की शुरुआत हुई जिसका केन्द्र-बिन्दु अमेरिका था। यह मन्दी दिन-ब-दिन बढ़ती गई। युरोप के अन्य देशों सहित अमेरिका की हालत भी दिन-ब-दिन पतली होती गई। विश्व अर्थव्यवस्था में इसकी भूमिका और हिस्सा लगातार घटता गया। भले ही आज अमेरिका संसार की सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था और सबसे बड़ी सैन्य ताकत है, लेकिन यह भी सच है कि इसकी हालत (खासकर आर्थिक) लगातार खराब हो रही है। 2007 के अमेरिकी सबप्राईम संकट से शुरू होकर विश्व व्यापी मन्दी के बादल अभी छटने का नाम नहीं ले रहे, बल्कि और भी घने होते जा रहे हैं। अमेरिकी अर्थव्यवस्था कर्ज में बुरी तरह डूबी हुई है। अर्थव्यवस्था का इस हद तक वित्तीयकरण एक विस्फोट को जन्म देगा। अमेरिका की सकल घरेलू उत्पादन की वृद्धि दर 2013 में 2.2 प्रतिशत थी। 2014 में यह 2.4 प्रतिशत तथा 2015 में 2.6 प्रतिशत थी। 2016 में यह गिरकर 1.6 प्रतिशत हो गई। दूसरी तरफ चीन के सकल घरेलू उत्पादन की वृद्धि दर 2013 में 7.7 प्रतिशत थी जबकि 2015 में 7 प्रतिशत।

वर्तमान विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के सभी संकेत बताते हैं कि अमेरिका की आर्थिक ताकत क्षरित होती जा रही है, जबकि इसे चुनौती देने वाले नए खिलाड़ी विश्व पटल पर उभर रहे हैं। चीन इनमें से सबसे आगे है। आर्थिक क्षेत्र में अमेरिकी साम्राज्यवाद को जो चुनौती मिल रही है वह सैन्य चुनौती के रूप में भी सामने आएगी और एक हद तक आ भी रही है।

अमेरिकी साम्राज्यवाद के विश्व वर्चस्व को चुनौती का एक सम्भावित स्रोत यूरोपीय यूनियन

यूरोपीय यूनियन का बनना 20वीं सदी के आखरी दशक की एक महत्वपूर्ण घटना है। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद यूरोप के एकीकरण की प्रक्रिया शुरू हुई जो कदम-ब-कदम आगे बढ़ी। 1948 में हेग कांग्रेस में यूरोपीयन मूवमेण्ट इण्टरनेश्नल और कॉलेज आफ यूरोप की स्थापना हुई। 1952 में यूरोपीय कोयला और स्टील समुदाय (Europian Coal and Steel Community) बना जिसे यूपोपीय संघ की तरफ पहला कदम घोषित किया गया। इसका लक्ष्य कहने के लिए राष्ट्रीय बड़े उद्योगों को मिलाने के जरिए सदस्य राज्यों में आपसी युद्ध की सम्भावना को खत्म करना था। बेल्जियम, फ्रांस, इटली, लग्जमबर्ग, नीदरलैण्ड और पश्चिमी जर्मनी आदि इसके संस्थापक सदस्य थे। 1957 में इन्होंने ही देशों के यूरोपीय आर्थिक समुदाय की स्थापना की। इसी तरह 1958 में यूरोपीय परमाणु समुदाय अस्तित्व में आया।

यूरोपीय आर्थिक समुदाय और यूरोपीय परमाणु ऊर्जा समुदाय, यूरोपीय कोयला और स्टील समुदाय से अलग तौर पर बनाए गए थे। लेकिन इनकी कुछ सभाएँ और कोर्टें साझी थीं। 1960 का पूर्वार्ध उपरोक्त यूरोपीय संस्थाओं के लिए तनावपूर्ण रहा। इसकी वजह फ्रांस द्वारा पार-राष्ट्रीय शक्ति को सीमित किए जाने की माँग थी। लेकिन 1967 में ब्रसेल्स में हुए विलय समझौते के जरिए यह विवाद हल कर लिया गया। जुलाई 1967 में उपरोक्त तीनों ''समुदायों'' को मिला दिया गया और नए 'समुदाय' को 'यूरोपीय समुदाय' नाम दिया गया। 1973 में इसमें यूरोप के अन्य देश, जैसे कि डेनमार्क (ग्रीनलैण्ड सहित, जिसने बाद में 1985 में 'समुदाय' को छोड़ दिया)। 1979 में पहली बार यूरोपीय संसद के प्रत्यक्ष चुनाव हुए।

1981 में यूनान इस 'समुदाय' में शामिल हुआ और पुर्तगाल और स्पेन 1986 में। 1986 में 'समुदाय' द्वारा साझा झण्डा इस्तेमाल किया जाने लगा और एकल यूरोपीय कानून अस्तित्व में आया। बाद में यूरोप के अन्य देश भी इस 'समुदाय' में शामिल होते गए।

वर्तमान यूरोपीय यूनियन के गठन के लिए यूरोपीय समुदाय में फरवरी 1992 में हालैण्ड में मास्ट्रिख्ट संधि हुई। नवम्बर 1993 में इस समझौते के लागू होने से यूरोपीय यूनियन अस्तित्व में आया। सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद 1991 में ढह चुका था। रूसी साम्राज्यवाद की कमज़ोरी ने यूरोपीय यूनियन के पूर्वी यूरोप (जो कि पहले सोवियत सामाजिक-साम्राज्यवाद का प्रभाव क्षेत्र था) की ओर यूरोपीय यूनियन के विस्तार की राह साफ की। इस समय यूरोपीय यूनियन 28 यूरोपीय राज्यों की राजनीतिक-आर्थिक यूनियन है।

1 जनवरी 1999 को, यूनियन के 11 देशों ने संयुक्त मुद्रा यूरो को अपना लिया। यह यूरोप के एकीकरण की ओर एक बड़ा कदम था। अब तक यूरोपीय यूनियन के भीतर बनी इस मुद्रा यूनियन (जिसे यूरोज़ोन भी कहा जाता है) में यूरोपीय यूनियन के 19 देश शामिल हो चुके हैं। यूरोज़ोन की मुद्रिक नीतियाँ यूरोपीय केन्द्रीय बैंक बनाता है। यह बैंक 1998 में अस्तित्व में आया था। अपनी शुरुआत से लेकर 2007 तक यूरो विश्व की दूसरी आरक्षित मुद्रा बन चुकी है और विदेशी मुद्रा भण्डारों का एक चौथाई यूरो में था। (DB Reserch, 4 May 2007)

2012 में यूरोपीय यूनियन का संयुक्त सकल घरेलू उत्पादन 16.073 ट्रिलियन अन्तर्राष्ट्रीय डॉलर था जो कि वैश्विक सकल घरेलू उत्पाद का 20 प्रतिशत था [क्रय शक्ति समानता (Purchasing Power Parity) की टर्मों में]। 2010 में आमदन के मुताबिक विश्व के 500 सबसे बड़ी कार्पोरेशनों में 161 के मुख्यालय यूरोपीय यूनियन में थे। (Global Fortune-500 in 2010)

दूसरे विश्व युद्ध के बाद शुरू हुई यूरोप के एकीकरण की प्रक्रिया, इससे बनी विभिन्न संस्थाओं, फिर यूरोपीय यूनियन बनने और इसके भीतर एक एकल मुद्रा यूनियन बनने के पूरे इतिहास पर निगाह डालें तो यूरोप लगातार और अधिक एकीकरण की दिशा में ही आगे बढ़ा है। बेशक यूरोपीय यूनियन अभी भी एकल राज्य नहीं है। इसके विभिन्न देशों के बीच समय-सयम पर कई मुद्दों पर, खासकर विदेश नीति के मुद्दे पर अन्तरविरोध भी सामने आते रहते हैं, जो दिखाते हैं कि यूरोपीय यूनियन के देशों का एकीकरण अभी इस हद तक नहीं पहुँचा कि इनकी विदेश नीति भी साझी हो। लेकिन इसके बावजूद भी यूरोपीय यूनियन को एक ढीला-ढाला और गैर-रसमी गठबन्धन नहीं कहा जा सकता। कई बार कई देशों के यूरोपीय यूनियन से (जैसे कि इंग्लैण्ड) और कई देशों के करंसी यूनियन (यूरो) से (जैसे कि यूनान) के अलग होने की खबरें भी आती रही हैं। और इंगलैण्ड ने इस यूनियन से अलग होने का फैसला कर भी लिया है। लेकिन कुल मिलाकर बाकी बचे यूरोपीय सदस्यों (इसके पिछले पिछले इतिहास को देखते हुए) के एकीकरण की प्रक्रिया अनुत्क्रमणीय (Ir-reversible) प्रतीत होती है।

दूसरे विश्व युद्ध के बाद यूरोप के साम्राज्यवादी देश सोवियत सामाजिक-साम्राज्यवाद के विरोध में और दुनिया के संसाधनों में हिस्सेदारी हासिल करने की दौड़ में अमेरिकी साम्राज्यवाद के साथ मिलकर चलते रहे हैं। इसके अधिकतर देश अमेरिकी नेतृत्व वाले सैन्य गठबन्धन नाटो का हिस्सा रहे हैं। आज भी यूरोपीय यूनियन के 21 देश इसके सदस्य हैं।

लेकिन साम्राज्यवादियों के बीच एकता, दोस्ती, दुश्मनी के समीकरण वक्त के साथ बदलते रहते हैं।

यूरोपीय यूनीयन की नेतृत्वकारी कोर बड़े पश्चिमी साम्राज्यवादी देश जर्मनी तथा फ्रांस हैं। जर्मनी और फ्रांस ही इस यूनियन के मुख्य राजनीतिक-आर्थिक चालक हैं। जर्मनी न सिर्फ इस क्षेत्र बल्कि विश्व की ही एक मुख्य आर्थिक ताकत है। फ्रांस और जर्मनी के साम्राज्यवादियों की अमेरिकी साम्राज्यवाद से अलग विश्व के अखाड़े में आज़ाद तौर पर दखल देने की आकांक्षाएँ समय-समय पर सामने आती रही हैं।

1990 के दशक में सोवियत शिविर के बिखराव के बाद एक तरफ जहाँ अमेरिकी साम्राज्यवाद पूर्वी यूरोप के देशों को अपने नेतृत्व वाले सैन्य गठबन्धन में शामिल करने में कामयाब रहा, वहीं दूसरी ओर पश्चिमी यूरोपीय साम्राज्यवादी इनमें से अधिकतर देशों को यूरोपीय यूनियन के आर्थिक दायरे में शामिल करने में कामयाब रहे।

पश्चिमी यूरोपीय राज्य अकेले-अकेले अमेरिकी साम्राज्यवाद का आर्थिक क्षेत्र में मुकाबला नहीं कर सकते। लेकिन, एकल, एकीकृत समूह के तौर पर विश्व में इससे मुकाबला सकते हैं। यूरोप के फैसलों और सुदृढ़ीकरण के कारण अमेरिकी साम्राज्यवाद के सामने एक शक्तिशाली राजनीतिक, वित्तीय और औद्योगिक विरोधी मौजूद है। वक्त के साथ यूरोपीय यूनियन अधिक एकजुट और शक्तिशाली शिविर के रूप में उभरा है। इस यूनियन के विभिन्न देशों में नीतियों के तालमेल और शक्तियों के अमल के लिए विभिन्न संस्थाएँ अस्तित्व में आई हैं। यूरोपीय यूनियन साम्राज्यवादी विश्व व्यवस्था के भीतर अपनी प्रतिस्पर्धा और मुनाफा दर (Profitability) बढ़ाने, संयुक्त बाज़ार के आगे के एकीकरण और विस्तार की दिशा में आगे बढ़ा है। यूरोपीय कम्पनियों के मुनाफ़े और मुनाफ़ा दर बढ़ाने के लिए यूरोपीय साम्राज्यवादियों की मुख्य निर्भरता 'लचीले श्रम' पर है। जिसके लिए नवउदारवादी नीतियों के तहत इन देशों में मेहनतकशों के अधिकार, सहूलतें छीनने की कोशिशें जारी हैं।

यूरोपीय कम्पनियों की प्रतिस्पर्धा क्षमता बढ़ाने की कार्यसूची में यूरोप की बड़ी कम्पनियों का विलय, जैसे कि स्टील उद्योग में, भी शामिल है, उदाहरण के लिए यूरोप व्यापी ऐरोसपेस कम्पनी (EAGS : Europian Aeronautics Defence and Space company) का बनना। यह कम्पनी अमेरिकी बोईंग (Boing) के मुकाबले में एयरबस बनाती है।

यूरोपीय यूनियन के पूर्वी यूरोप की ओर विस्तार ने विश्व बाज़ार में पश्चिमी यूरोपीय पूँजी की प्रतिस्पर्धा क्षमता को बढ़ाया है। एक तो इसने पश्चिमी यूरोपीय पूँजी निवेश के लिए जगह मुहैया की, दूसरा इसे सस्ती और कुशल श्रम शक्ति का बड़ा भण्डार मुहैया करवाया।

रणनीतिक तौर पर भी पूर्वी यूरोप, यूरोपीय यूनियन की भू-राजनीतिक आकांक्षाओं के लिए महत्वपूर्ण है। भूगोलिक तौर पर यह पश्चिमी यूरोप के एक बड़े ऊर्जा आपूर्तिकर्ता रूस के नज़दीक है। इस तरह पूर्वी यूरोप एक तरह का बफर जोन है। इसके अलावा इन देशों में पश्चिमी यूरोपीय पूँजी की घुसपैठ एक तरह से अमेरिकी सैन्य दबदबे के लिए प्रति-संतुलन (Counter Weight) का काम करता है।

यूरोपीय यूनियन की कोई एकीकृत फौज नहीं है। इसके अधिकतर देश अमेरिकी नेतृत्व वाले सैन्य गठबन्धन के सदस्य हैं। लेकिन 1999 के कसोवो युद्ध के बाद यूरोपीय काऊंसिल इस बात पर सहमत हुई कि यूनियन के पास स्वायत्त (Autonomus) कार्रवाई की क्षमता होनी चाहिए, जिसके पीछे एक विचारणीय सैन्य शक्ति हो। बाद में यूरोपीय यूनियन के देशों के बीच लम्बी विचार-चर्चा का नतीजा यूरोपीय यूनियन बैटल ग्रुप्स (EU Battle Groups) बनने में निकला। पहली जनवरी 2007 को यूरोपीय यूनियन बैटल ग्रुप्स की अवधारणा ने पूर्ण व्यवहारिक क्षमता हासिल कर ली। यूरोपीय यूनियन बैटल ग्रुप्स को संयुक्त युरोपीय फौज के भ्रूण के रूप में भी देखा जा सकता है।

दूसरी ओर यूरोपीय यूनियन के अग्रणी साम्राज्यवादी देश अपनी सैन्य क्षमता बढ़ाने के लिए खर्चे भी बढ़ा रहे हैं। इनमें से फ्रांस, जो एक परमाणु शक्ति भी है, सबसे आगे है। 2016 में इसने रक्षा पर 55.9 बिलियन डॉलर खर्च किए। इस वर्ष सैन्य खर्च के मामले में फ्रांस का विश्व में छठा स्थान था।

यूरोपीय यूनियन अपने सैन्य उद्योग को भी बढ़ा रही है। यह यूरो फाईटर लड़ाकू जहाज और लम्बी दूरी के एयरक्राफ्ट बनाने में निवेश बढ़ा रही है। इसने यूरोपीयन सेटेलाईट नेवीगेशन सिस्टम (गलीलिओ) विकसित किया है। यह सब यूरोप व्यापी संयुक्त पहलकदमियाँ हैं।

यहीं यूरोपीय यूनियन के अग्रणी देश जर्मनी की थोड़ी-बहुत चर्चा कर लें। जर्मनी की अर्थव्यवस्था यूरोप की सबसे बड़ी और मज़बूत अर्थव्यवस्था है। यह यूरोपीय यूनियन का लगभग निर्विवाद नेता है।

5 नवम्बर, 2013 को जर्मन-फॉरेन पॉलिसी डॉट काम (German foreign polocy.com) में छपे एक लेख में कहा गया है, ''यूरोपीय यूनियन में जर्मनी की हावी हैसीयत को स्वभाविक स्वीकार किया जाता है''। इस लेख में 'अन्तर्राष्ट्रीय और सुरक्षा मामलों के बारे में संस्था' (German Institute for International and Security Affairs) का हवाला दिया गया है, ''इन दिनों यूरोप में शक्ति का पुनर्वितरण हो रहा है, जिसमें फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन साफ तौर पर जर्मनी से पीछे रह रहे हैं।''

राजनीतिक और आर्थिक आदि तमाम मामलों में यूरोप में जर्मनी का वर्चस्व है। यूरोप के नेतृत्व के कारण जर्मनी विश्व स्तर पर गौरतलब प्रभावशाली शक्ति बन गया है।

उपरोक्त लेख जर्मन बुर्जुआज़ी की विश्व वर्चस्व की आकांक्षओं का प्रतिनिधित्व करता है। ऐसा ही एक लेख जर्मन बिजनेस अखबार Handelsblatt में छपा था, जिसका शीर्षक था 'संसाधनों के लिए अभियान : जर्मनी का नया रास्ता' (Expedition resources: German's new course)। यह लेख जर्मन बुर्जुआजी की आकांक्षाओं को व्यक्त करता है। निर्यातों पर निर्भर जर्मन उद्योग की कच्चे माल खासकर ऊर्जा संसाधनों के लिए भूख बहुत बड़ी है, इस तरह इसे अपने माल की बिक्री और पूँजी के निर्यात के लिए बाज़ार भी चाहिए। इसी अखबार के मुताबिक पिछले एक दशक में जर्मनी में कच्चे माल का आयात लगभग तीन गुणा हो गया है। अखबार का कहना है, ''कच्चे माल को सुरक्षित करने के गुजरे समय के राजनीतिक उपाय अपनी हद तक पहुँच गए हैं. . . उद्योग (जर्मन) को डर सता रहा है कि जर्मनी के उच्च तकनीक सेक्टर जरूरी माल (कच्चा) की पूर्ति से वंचित हो जाएगा।''

Handelsblatt के इस लेख में लीथियम, कोबाल्ट, क्रोमियम, इण्डीयम जैसे दुर्लभ और बहुमूल्य संसाधनों के बारे में विस्तार में लिखा गया है और लेख बताता है कि कैसे इन संसाधनों के लिए साम्राज्यवादी शक्तियों का झगड़ा बढ़ रहा है।

जर्मनी के वे पूँजीवादी घराने जिन्होंने किसी समय हिटलर को धन मुहैया करवाया था, आज कल फिर से युद्ध के नगाड़े बजा रहे हैं। जर्मनी के बड़े पूँजीपति घरानों ने मिलकर 2011 में 'संसाधन गठबन्धन' (Resource Alliance) की स्थापना की थी। इसमें फोक्सवागन (Volkswagen), थाईसेनकरुप (Thyssenkropp), बेयर (Bayer) और बीएएसएफ (BASF) शामिल हैं। इन घरानों या इनके पूर्वजों ने नाज़ी जंगी योजनाओं की सीधी हिमायत की थी। अब ये घरानें बेहद महत्वपूर्ण कच्चे माल के स्रोतों को जर्मनी के लिए सुरक्षित बनाने की योजनाएँ बनाने में जर्मन सरकार के साथ नज़दीक से जुड़कर काम कर रहे हैं। हालांकि इन कच्चे माल के स्रोतों के लिए जरूरत पड़ने पर ताकत का इस्तेमाल भी किया जा सकता है, यह भी इन पूँजीपति घरानों और जर्मन सरकार की योजनाओं में शामिल है।

Handelsblatt ने अपने लेख में 'संसाधन गठबन्धन' के प्रबन्धक डाईर्क पासक्रेट की एक मुलाकात का हवाला दिया है। पासकरेट ने साफ़ तौर पर माना है कि यह संगठन कच्चे माल के स्रोतों को अपने विरोधियों से छीनने के लिए सैन्य ताकत का इस्तेमाल करने की इच्छा भी रखता है। अखबार द्वारा यह पूछे जाने पर कि क्या एक बार फिर संसाधनों के लिए युद्ध होंगे, पासक्रेट का कहना है, ''इतिहास दिखाता है कि बहुत सारे झगड़ों की जड़ संसाधनों की लड़ाई में है। अब तक अधिकतर यह तेल और गैस के लिए थी, लेकिन बढ़ते रूप में खनिजों के लिए भी थी। कच्चे माल की पूर्ति किसी के मूल्य और धन का आधार है इसलिए इसका भू-राजनीतिक महत्व है। फारस की खाड़ी में अमेरिकी फौज का होना, चीन द्वारा नौसेना का बड़े स्तर पर विस्तार सभी का मकसद इस तरह के हितों की सुरक्षा है।'' अखबार का कहना है कि जर्मनी के सभी राजनीतिक हलके पासक्रेट के इन विचारों से सहमत हैं कि, ''कच्चे माल के संसाधनों पर कबजा (जर्मन सरकार की) विदेश नीति का रणनीतिक मामला है।''

उग्र जर्मन साम्राज्यवाद की वापसी अन्तर्साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा के एक नए मुकाम की ओर इशारा करती है। दूसरे विश्व युद्ध के बाद जर्मन बुर्जुआजी ने एक शान्तिवादी रुख अपनाया, युद्ध और अन्य सैन्य कार्रवाइयों के लिए अमेरिकी साम्राज्यवाद पर निर्भरता रखी। यह सिर्फ एक ऐतिहासिक मध्यांतर था।

विश्व पूँजीवाद का वर्तमान संकट भी जर्मन बुर्जुआजी को अब हमलावर रवैया अख्तयार करने के लिए मज़बूर कर रहा है। आर्थिक संकट के कारण यूरोपीय यूनियन को किफायतसारी (austerity) की नीतियाँ अपनानी पड़ रही हैं। इसके कारण यहाँ घरेलू बाज़ार सिकुड़ रहा है। इस बाज़ार ने पिछले दशकों में जर्मन व्यापार और उत्पादन को विस्तार का आधार मुहैया करवाया था। विश्व पूँजीवाद का आर्थिक संकट जैसे-जैसे तीखा होता जा रहा है, जर्मन साम्राज्यवाद को विश्व वर्चस्व के लिए अन्तर्साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा में उतरने के लिए अधिक से अधिक मज़बूर कर रहा है।

इन परिस्थितियों में जर्मन बुर्जुआजी फिर से तैयारियाँ कर रही हैं। Handelsblatt बिना किसी लाग-लपेट घोषणा करता है कि ''सारे विश्व में इस्तेमाल करने के लिए'' जर्मन फौज का पुनर्निर्माण किया जाएगा।

ऐसी ही स्थिति में जर्मन साम्राज्यवाद ने अपना सैन्य खर्च बढ़ा दिया है और नाटो के नेतृत्व में विदेशों में सैन्य अभियानों में अपनी भागीदारी भी बढ़ा दी है।

इस समय जर्मनी के छः हज़ार सैनिक विदेशों में तैनात है, इस मामले में इंग्लैण्ड के बाद यूरोप में इसका दूसरा स्थान है। इसमें से 4260 सैनिक उत्तरी अफ़गानिस्तान में हैं। कसोवो में इसके 816 सैनिक हैं।

जर्मनी का प्रति व्यक्ति सुरक्षा खर्च 2007 में 461 डॉलर था जो कि 2011 में बढ़ाकर 500 डॉलर कर दिया गया। 2016 में जर्मनी का सैन्य बजट 41.1 बिलियन डॉलर था जबकि 2015 में 36.7 बिलियन डॉलर था। आने वाले समय में यह खर्च और बढ़ता जाएगा। भले ही यूरोपीय यूनियन सैन्य क्षमता के मामले में अमेरिका के आस-पास भी नहीं है। लेकिन उपरोक्त रूझान यूरोप की बढ़ती हुई दावेदारी को दर्शाता है।

1991 में अस्तित्व में आने के बाद यूरो विश्व मुद्रा के रूप में बड़ी भूमिका अदा कर रहा है। यह मुद्रा के तौर पर अमेरिकी डॉलर का सबसे बड़ा प्रतिद्वन्दी है।

यूरोपीय यूनियन सबसे बड़ा विदेशी निवेशक है। साल 2016 में इसका विदेशी निवेश (Outward FDI) 470 बिलियन डॉलर था, जबकि अमेरिका के लिए यह आँकड़ा 299 बिलियन डॉलर था। (WIR 2017) अकेले देश की बात करनी हो तो अमेरिका अभी भी दुनिया का सबसे बड़ा विदेशी निवेशक या पूँजी का सबसे बड़ा निर्यातक देश है। लेकिन इसके प्रतिद्वन्दी लगातार उभर रहे हैं और मज़बूत हो रहे हैं। यूरोपीय यूनियन विदेशी निवेश के क्षेत्र में विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में अमेरिकी साम्राज्यवाद से टक्कर ले रहा है।

फिर से कमर कस रहा जापानी साम्राज्यवाद

पुराने साम्राज्यवादी देश जापान के बारे में यहाँ चर्चा अनावश्यक नहीं होगी। दूसरे विश्व युद्ध के बाद अमेरिकी साम्राज्यवाद से दबता आया जापानी साम्राज्यवाद अब अपने 'रसूख के क्षेत्रों' के फैलाव के लिए अन्तर्साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा में कूदने के लिए फिर से कमर कस रहा है। यह उभर रहे चीनी खतरे के बहाने लगातार सैन्य खर्च बढ़ा रहा है।

जहाँ तक जापानी अर्थव्यवस्था का प्रश्न है हालांकि यह अभी भी दुनिया की तीसरी सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था है, लेकिन यह लम्बे समय से समस्याओं से जूझ रहा है। यह पिछले लम्बे समय से संकट और गतिरोध का शिकार है।

1989 में जापानी अर्थव्यवस्था को एक बड़े झटके का सामना करना पड़ा था। कई अर्थशास्त्री इसे इतिहास के सबसे बड़े आर्थिक बुलबुले का फटना भी कहते हैं। 1989-2013 तक 24 वर्षों तक जापानी अर्थव्यवस्था मन्दी (Non Recovery) की दलदल में धँसती रही। 2011 में इसका नोमीनल (Nominal) सकल घरेलू उत्पादन (वास्तविक सकल घरेलू उत्पादन + मुद्रा स्फीति) ठीक उतना ही था जितना कि 1991 में। अभी भी इस मामले में स्थिति यही बनी हुई है।

जापान एक बड़ा कर्जदार देश भी है। इसका कर्ज इसके सकल घरेलू उत्पादन का 230 प्रतिशत है जो कि विकसित देशों में सबसे अधिक है। अगर इसमें कार्पोरेट और निजी कर्ज भी जोड़ लिया जाए तो यह सकल घरेलू उत्पादन का 500 प्रतिशत के बराबर पहुँच जाता है।

दिसम्बर 2012 में शिंजो अबे के नेतृत्व वाली दक्षिणपंथी पार्टी लिब्रल डेमोक्रेटिक पार्टी जापान में सत्ता में आई। इस पार्टी को जापानी हुक्मरान वर्ग के उन हिस्सों का समर्थन हासिल है जो दूसरे विश्व युद्ध के बाद के संविधान और संसदीय जनवाद को अपने हितों की पूर्ति के खिलाफ़ रुकावट समझते हैं। इस संविधान के मुताबिक जापान फौज, नौसेना, और हवाई सेना नहीं रख सकता। इसका सैन्य खर्च बहुत कम है। आज की जापानी फौज शीत युद्ध के दिनों में उत्तर की ओर से रूस द्वारा हमले से रक्षा के लिए बनाई गई थी। दूसरी तरफ पिछले दस सालों में चीन ने अपनी फौज का आश्चर्यजनक रफतार से रुपान्तरण किया है। 2012 में पूर्वी चीन में छोटे-छोटे टापुओं को लेकर लम्बे समय से सुलग रहा विवाद अचानक भड़क उठा।

इस पृष्ठभूमि में कट्टर राष्ट्रवादी शिंजो अबे जापान का प्रधान मंत्री बना, जिसने चीनी खतरे का मुकाबला करने के लिए जापानी जनता से वादा किया।

शिंजो अबे की सरकार बनते ही इसने नई राष्ट्रीय सुरक्षा रणनीति स्वीकृत की, जिसमें सुरक्षा पर खर्च बढ़ाना शामिल था। जापान का यह कदम स्पष्ट रूप से चीन की ओर लक्षित था। राष्ट्रीय सुरक्षा दस्तावेज में कहा गया है कि ''चीन का अन्य देशों की ओर रवैया और इसकी सैन्य चालें जिससे इसकी सेनाओं और सुरक्षा नीतियों की अपारदर्शिता भी जुड़ जाती है, दिखाती हैं कि जापान और अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय को इसकी ओर सरोकार रखना चाहिए और इस पर नज़दीक से निगाह रखनी चाहिए।"

अबे सरकार की नीतियों में 1929 के वाल स्ट्रीट क्रेश और 1930 के दशक की महामन्दी की तरफ जापानी बुर्जुआ की प्रतिक्रिया की गूँज सुनाई देती है। जब जापानी निर्यातों में गिरावट आई और आर्थिक वृद्धि दर में तीखी गिरावट आई तो फौज ने संकट से उभरने के लिए हथिआरों पर खर्च बढ़ाने, मंचूरिया और चीन पर हमला करने की माँग की थी। आज एक बार फिर जापान ऐसी ही परिस्थिति में पहुँचा हुआ है।

दुसरे विश्व युद्ध के बाद से जापान अमेरिकी सुरक्षा छतरी तले पिस रहा है। लेकिन अब अमेरिकी आर्थिक संकट, अमेरिकी साम्राज्यवाद की क्षरित हो रही आर्थिक ताकत को देखते हुए जापानी बुर्जुआजी यह महसूस कर रही है कि चीन के बढ़ते खतरे को देखते हुए अब सिर्फ अमेरिकी सुरक्षा के सहारे ही नहीं रहा जा सकता, 2014 के शुरू में अबे का सुरक्षा सलाहकार योसुके इसोजाकी का यह ब्यान काफी कुछ साफ कर देता है, ''सच कहूँ तो अमेरिका विश्व पुलिसिए की भूमिका और नहीं निभा सकता. . . यह ऐसा दौर नहीं है कि जापान को तो कुछ भी करने की आज्ञा न हो और सिर्फ इसके सहारे रहना पड़े कि अमेरिका हमारी रक्षा करेगा, हमारे लिए यह अति-महत्वपूर्ण बन जाता है कि अमेरिका के साथ-साथ हम भी अपने हिस्से का काम करें।''

लिब्रेल डेमोक्रेटिक पार्टी के महासचिव रहे शिगेरू ईशीबा के भी ऐसे ही विचार हैं। उनका कहना है ''चीन का सुरक्षा के खर्च में दोहरे अंक (Double Digit) की वृद्धि जारी रहेगी, जो कि घट रही अमेरिकी शक्ति के सापेक्ष इसकी ताकत बढ़ाएगा।''

पिछले कुछ समय से जापान ने अपनी सुरक्षा पर खर्च बढ़ाना शुरू किया है। 2013 में जापान ने सुरक्षा पर 53 बिलियन डॉलर खर्च किया। जो कि जापान का इस मामले में एक रिकार्ड था। आने वाले पाँच वर्षों में जापान का यह सैन्य खर्च बढ़कर 232 से 240 बिलियन डॉलर तक हो जाएगा। जापान विदेशों से बड़े पैमाने पर आधुनिक हथियार खरीद रहा है। इसके साथ ही अपने आधुनिक लड़ाकू जहाज विकसित कर रहा है। जापान लड़ाकू जहाज ATD-X को

चीन व रूस के पाँचवी पीढ़ी के लड़ाकू जहाजों के मुकाबले में देखा जा रहा है। जापान का सुरक्षा मंत्रालय ATD-X के लिए विकसित की गई खोज को छठी पीढ़ी के लड़ाकू जहाज विकसित करने के लिए मील पत्थर समझ रहा है।

जापानी साम्राज्यवाद की इन सैन्य नीतियों को अमेरिकी साम्राज्यवाद का समर्थन हासिल है। उभर रहे चीन की घेराबन्दी में जापानी साम्राज्यवाद फिलहाल अमेरिका का स्वभाविक संगी-साथी है।

अमेरिकी साम्राज्यवाद के विश्व वर्चस्व को मुख्य चुनौती : रूसी साम्राज्यवाद का पुनुर्त्थान

आज साम्राज्यवादी शक्तियों में विश्व वर्चस्व के लिए और अपने रसूख के क्षेत्रों में विस्तार के लिए प्रतिस्पर्धा पूरी तीसरी दुनिया और भूतपूर्व सोवियत गणराज्यों में जारी है। अमेरिका, यूरोपीय यूनियन (खासकर इसके अग्रणी देश), रूस (एक शक्तिशाली अर्थव्यवस्था के तौर पर उभरा चीन फिलहाल रूस के शिविर में ही है), जापान आदि सभी साम्राज्यवादी शक्तियाँ इस प्रतिस्पर्धा में उलझी हुई हैं। विश्व के किसी खित्ते में यह प्रतिस्पर्धा अगर अभी उभरकर सामने नहीं भी आई हो लेकिन वहाँ भी साम्राज्यवादी शक्तियों में आपसी टकराव सुलग रहा है और कुछ क्षेत्रों में यह टकराव बेहद तीखे रूप में सामने आ रहा है।

अमेरिका और सोवियत साम्राज्यवाद लगभग साढे तीन दशक (1956-1991) तक विश्व वर्चस्व के लिए तीखी प्रतिस्पर्धा में उलझे रहे। 1991 में सोवियत यूनियन बिखर गया और इसका सबसे शक्तिशाली देश रूस आर्थिक संकट में बुरी तरह उलझ गया। लेकिन जैसे ही रूस अपने आन्तरिक संकटों से उभरा उसका अमेरिकी साम्राज्यवाद विरोधी सुर दिन-ब-दिन ऊँचा और तीखा होता गया। आज अमेरिकी साम्राज्यवाद को सबसे तीखी चुनौती रूसी साम्राज्यवाद ही दे रहा है। अमेरिकी और रूसी साम्राज्यवाद के बीच तीखी हुई इस प्रतिस्पर्धा को बहुत सारे विश्लेषक शीत युद्ध की वापिसी भी कह रहे हैं। इन दोनों साम्राज्यवादी देशों के बीच यह प्रतिस्पर्धा लातीनी अमेरिका से लेकर अफ्रीका, मध्य-पूर्व, एशिया और पूर्वी यूरोप तक जारी है। यूरोपीय यूनियन इस टकराव में फिलहाल अमेरिकी शिविर में है। लेकिन अमेरिका और यूरोपीय यूनियन में अन्तरविरोध भी हैं। दूसरी और रूस और चीन की धुरी बनती जा रही है। जापानी साम्राज्यवाद चीन के साथ अपने टकराव के कारण फिलहाल अमेरिकी शिविर में है। लेकिन साम्राज्यवादियों की एकता अल्पकालिक होती है। टकराव उनके परस्पर सम्बन्धों में बुनियादी चीज है। इसलिए साम्राज्यवादियों की एकता के समीकरण लगातर बदलते रहते हैं।

रूसी साम्राज्यवाद द्वारा अमेरिकी साम्राज्यवाद को हर क्षेत्र में चुनौती दी जा रही है। अमेरिका के लिए यह चुनौती आर्थिक क्षेत्र में भी है और सैन्य क्षेत्र में भी। अमेरिकी नेतृत्व वाले सैन्य गठबन्धन नाटो (उत्तरी एण्टलाण्टिक सन्धी संगठन) को चुनौती देने के लिए रूस के नेतृत्व में शिंघाई सहयोग संगठन (SCO) उभर रहा है। पहले ब्रिक (BRIC) और फिर ब्रिक्स (BRICS) अमेरिका को आर्थिक क्षेत्र में चुनौती दे रहा है। ब्रिक्स बैंक का बनना और चीन द्वारा बनाया जा रहा एशिया अवसरंचना निवेश बैंक (AIIB), अमेरिकी नेतृत्व वालीं ब्रेटनवुड संस्थाओं (अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक आदि) को चुनौती देने की दिशा में कदम हैं। रूस, चीन की अडालरीकरण की नीतियाँ विश्व अर्थव्यवस्था में डॉलर के वर्चस्व का क्षरण कर रही हैं।

नाटो विरोधी शंघाई सहयोग संगठन (SCO) का बनना और मज़बूत होना

चार देशों रूस, चीन, कज़ाख़िस्तान, ताज़िकिस्तान के मुखियों की बैठक 1996 में शिंघाई में हुई और 1997 में मास्को में हुई। इनकी बैठकों का मकसद यह बताया गया : सरहदों पर सैन्य विश्वास गहरा करना, इन इलाकों में सेनाएँ घटाना आदि। इसके बाद यह सालाना बैठक एक नियम बन गया। इनके विचाराधीन मसले भी बदलते गए। इनमें सरहदों

पर विश्वास विकसित करने से लेकर सुरक्षा के साथ जुड़े, कूटनीतिक, आर्थिक, व्यापारिक आदि सभी मसले शामिल होते गए। इस परस्पर सहकार प्रबन्ध (Mechanism) को ''शंघाई पाँच'' (Shanghai Five) का नाम दिया गया।

''शंघाई पाँच'' की पाँचवी वर्षगांठ पर जून 2001 को इसे 'शंघाई सहयोग संगठन' का नाम दिया गया। इसी समय उजबेकिस्तान को भी इसमें शामिल कर लिया गया। जून 2004 में एक 'ऑबजर्बर' के रूप में मंगोलिया को भी इसमें शामिल कर लिया गया। भारत, ईरान और अफगानिस्तान को भी जुलाई 2005 में शंघाई सहयोग संगठन में 'ऑबजर्बर' का दर्जा मिला। सितम्बर 2014 से इन देशों को संगठन के पूर्ण सदस्य का दर्जा देने का मामला संगठन के विचाराधीन है।

शंघाई सहयोग संगठन अपने फैलाव के साथ-साथ मज़बूत भी हो रहा है। इसका मुख्य मकसद नाटो के प्रभाव और मौजूदगी को क्षरित करना है। तात्कालिक तौर पर मध्य एशिया से और फिर अन्य क्षेत्रों से संगठन ने मध्य एशिया के देशों पर दबाव डाला कि वह अपने देशों से अमेरिकी फौज के सैन्य अड्डे बन्द करवाएँ। इसमें इसे कुछ कामयाबी भी मिली। अमेरिका को उज़बेकिस्तान से कारज़ी-खानाबाद और 2014 में किरगिज़स्तान से मानस सैन्य अड्डा बन्द करना पड़ा। यूक्रेन के मामले में संगठन के सभी सदस्यों ने रूसी अवस्थिति को सही बताया। यह इस संगठन के आन्तरिक तौर पर अमेरिका, नाटो के विरोध में मज़बूत होने को दिखाता है।

संगठन के सदस्य देश समय-समय पर संयुक्त सैन्य अभ्यास भी संगठित करते रहते हैं।

ब्रिक्स का बनना और अमेरिकी वर्चस्व को एक और चुनौती

ब्रिक्स (BRICS) ''उभर रही अर्थव्यवस्थाओं'', ब्राजील, रूस, भारत, चीन और दक्षिण अफ्रीका का समूह है। पहले इसे ब्रिक कहा जाता था, क्योंकि तब इसमें दक्षिणी अफ्रीका शामिल नहीं था। 2010 में दक्षिणी अफ्रीका के समूह में शामिल होने के बाद इसका नाम ब्रिक्स (BRICS) रखा गया। इन देशों को 'विकासशील देश और नए औद्योगिकृत' देश भी कहा जाता है। 2010 से ब्रिक्स देश नियमित वार्षिक शिखर वार्ता करते हैं।

2014 में ब्रिक्स देशों की आबादी लगभग 300 करोड़ थी जो कि विश्व की कुल आबादी का 40 प्रतिशत बनता था। इन पाँच देशों का संयुक्त नामीनल सकल घरेलू उत्पादन (Nominal GDP) 16.039 ट्रिलीयन अमेरिकी डॉलर था जो कि विश्व के सकल उत्पादन) का 20 प्रतिशत था। परचेजिंग पावर पेरिटी (PPP), जो कि वास्तविक अर्थव्यवस्था को जानने का अधिक स्टीक तरीका माना जाता है, के आधार पर यह 30 प्रतिशत था। इन देशों के पास अंदाज़न 4 ट्रिलियन अमेरिकी डॉलर का विदेशी मुद्रा भण्डार था।

2014 में इन देशों में कुल परस्पर व्यापार 6.14 ट्रिलीयन डॉलर था जो विश्व के कुल व्यापार का लगभग 17 प्रतिशत था।

15 जुलाई 2014 को फोर्टालेज़ा (ब्राजील) में ब्रिक्स के छठे शिखर सम्मेलन में अपने वक्तव्य में रूसी राष्ट्रपति पुतिन ने कहा था, ''अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बढ़ रहे मुकाबले को देखते हुए ब्रिक्स देशों में परस्पर व्यापार और निवेश को बढ़ावा देना महत्वपूर्ण बन गया है।'' उसने अपने वक्तव्य में यह भी जोड़ा कि विश्व के कुल पूँजी निवेश का 11 प्रतिशत ब्रिक्स देशों में होता है और पिछले पाँच वर्षों में कारोबार (Turnover) दोगुना हो गया है।

रूस ने यह भी प्रस्ताव रखा कि ब्रिक्स देशों को एक उर्जा गठबन्धन बनाना चाहिए जिसमें आरक्षित ईंधन (Fuel Reserve) रखना भी शामिल हो।

ब्रिक्स का नेतृत्व मुख्यतः रूस-चीन के पास है। इसका मुख्य उद्देश्य अमेरिकी नेतृत्व वाले ''एकध्रुविय'' विश्व को ''बहुध्रुविय'' बनाना है।

ब्रिक्स की बहुध्रुवियता का भावी नक्शा ''बहुध्रुवीय विश्व और नए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के बारे में संयुक्त रूस-चीन घोषणापत्र'' पर आधारित है। यह घोषणापत्र 23 अप्रैल 1997 को मास्को में स्वीकार किया गया था। (Russian-Chines Joint Declaration n a Multipolar World and the Establishment of a New International Order, http://www.fas.org/news/russia/1997/a52-153em.htm)। इस घोषणापत्र में दोनों देशों ने ''विश्व की बहुध्रुवता'' को बढ़ावा देने के प्रति प्रतिबद्धता जाहिर की थी और एक ऐसी व्यवस्था के लिए प्रयत्न करने के प्रण लिया था जहाँ ''किसी भी देश का वर्चस्व न हो, अन्तर्राष्ट्रीय मामलों पर इजारेदारी कायम करने के लिए शक्ति राजनीति (Power Politics) में व्यस्त न हो।''

16 जून 2009 को ब्रिक (BRIC) का इकातीरनाबर्ग (रूस) में शिखर सम्मेलन हुआ। इसके संयुक्त ब्यान में एक बार फिर विश्व की ''बहुध्रुवीयता'' पर ज़ोर दिया गया। यह ब्यान कहता है कि एक ऐसे ''जनवादी और उचित बहुध्रुवीय व्यवस्था की स्थापना की जाए जो अन्तर्ष्ट्रीय कानून, समानता, परस्पर सम्मान, सहयोग, समन्वित कार्रवाई, सामूहिक तौर पर फैसले लेने पर आधारित हो।'' (Joint Statement of the BRIC Countries' Leaders (Paragraph 12) Yekaterinburg, 16 June, 2009. http://archive.kremlin.ru/eng/text/docs/2009/06/217963.shtml)। स्पष्ट है कि इस ब्यान की भाषा भले ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून, बराबरी, परस्पर सम्मान वगैरा के शब्दों से कितनी भी मखमली बनाई गई हो लेकिन वास्तव में यह अमेरिकी वर्चस्व के खिलाफ एक रोषपत्र है जिसमें ब्रिक्स देश, मुख्यतः रूस-चीन, चाहते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में उनकी भी सुनवाई हो। लेकिन दूरगामी लक्ष्य यह है कि ये देश अपने अन्तरराष्ट्रीय वर्चस्व को स्थापित करना चाहते हैं।

ब्रिक्स टीम के मुख्य खिलाड़ी रूस-चीन हैं। इसका नेता साम्राज्यवादी रूस है जिसकी अपनी साम्राज्यवादी आकांक्षाएँ हैं। वह विश्व राजनीति में अपने लिए अधिक भूमिका चाहता है। भारत, ब्राजील, दक्षिण अफ्रीका जैसे तीसरी दुनिया के पूँजीवादी देश इस साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा में सम्राज्यवादी दबाव से कुछ राहत की, कुछ फायदे लेने के ताक में हैं।

रूस-चीन ब्रिक्स को पश्चिमी साम्राज्यवादी समूह ग्रुप- 7 (G -7) की विरोधी शक्ति के रूप में उभारने की कोशिश में हैं।

अमेरिकी नेतृत्व वाली संस्थाओं अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष व विश्व बैंक को बढ़ रही चुनौती – ब्रिक्स विकास बैंक और एशियाई अधिसरंचना बैंक (AIIB) की स्थापना

ब्रिक्स विकास बैंक (BRICS Devlopment Bank) की स्थापना 15 जुलाई 2014 को फोर्टालेजा (ब्राजील) ब्रिक्स की छठी शिखर वार्ता हुई। इस बैंक की स्थापना पिछले कई वर्षों से इन देशों की कार्यसूची में थी और इसकी स्थापना को ब्रिक्स देशों की बड़ी उपलब्धि के रूप में देखा जा रहा है। शुरू में यह 100 बिलियन डॉलर का बैंक होगा जिसके पास इसके अलावा अन्य 100 बिलियन डॉलर आरक्षित भण्डार के तौर पर होंगे। यह नया बैंक ब्रिक्स देशों को अधिसरंचना और अन्य विकास परियोजनाओं के लिए धन मुहैया करवाएगा। इसमें सभी सदस्यों की बराबर सुनवाई होगी, भले ही उनका सकल घरेलू उत्पादन कितना भी हो। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक में ऐसा नहीं होता। अपने उपरोक्त ब्यान में ही रूसी राष्ट्रपति पुतिन ने कहा था, ''ब्रिक्स बैंक विश्व में बहुपक्षीय विकास वित्तीय संस्थाओं (Multilateral Devlopment Finance Institutions) में से एक होगा।''

ब्रिक्स बैंक की शुरुआत को डॉलर और डॉलर आधारित अमेरिकी नेतृत्व वाली संस्थाओं अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक, जिनमें ब्रिक्स देशों का नामात्र प्रभाव है, के विश्व व्यापार में वर्चस्व को तोड़ने की दिशा में ब्रिक्स देशों, खासकर रूस-चीन का पहला कदम है।

ब्रिक्स देशों ने आकस्मिक भण्डार व्यवस्था [Contingent Reserve Arrangement (CRI)] के नाम से एक संकट के ससय कर्ज देने के लिए 100 बिलियन डॉलर का फण्ड स्थापित किया है। इसलिए सबसे अधिक धन चीन (41 बिलियन डॉलर) देगा। रूस, ब्राजील, और भारत 18-18 बिलियन डॉलर देंगे और दक्षिणी अफ्रीका 5 बिलियन डॉलर देगा।

चीन द्वारा स्थापित किया गया एशियाई अधिसरंचना निवेश बैंक (AIIB) अमेरिका आधारित ब्रेटन-वुडस संस्थाएँ अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक के लिए एक और धक्का है। 24 अक्टूबर 2014 को 21 एशियाई देशों ने इस बैंक की स्थापना के लिए एक समझौते पर हस्ताक्षर किए। इस बैंक का मुख्यालय बीजिंग में होगा। यह बैंक एशिया में सड़कों, बन्दरगाहों, रेलवे, और अन्य अधिसरंचना के लिए कर्ज मुहैया करवाएगा। 15 अप्रैल 2015 तक इसके 57 सम्भावित संस्थापक सदस्य है, जिनमें से 37 एशियाई है और 20 बाहरी क्षेत्रों से हैं। एशिया से बाहरी क्षेत्रों के देश ये हैं – आस्ट्रेलिया, ब्राजील, डेनमार्क, मिस्र, फिनलैण्ड, जर्मनी, आईसलैण्ड, इटली, लग्जमबर्ग, माल्टा, नींदरलैंड, नार्वे, पोलैण्ड, पुर्तगाल, दक्षिणी अफ्रीका, स्पेन, स्वीडन, स्विटजरलैण्ड, इंग्लैण्ड, फ्रांस। 25 दिसम्बर 2015 से इस बैंक ने काम शुरू कर दिया है।

एशिया अधिसरंचना निवेश बैंक विश्व बैंक के एशिया केन्द्रित विकल्प के तौर पर पेश कर रहा है। अमेरिकी साम्राज्यवाद इस बैंक के अस्तित्व में आने से सबसे अधिक गुस्से में है। उसने अपने संगियों को इस बैंक की सदस्यता लेने से रोकने के लिए पूरा ज़ोर लगाया। जापान, कोरिया और आस्ट्रेलिया को अमेरिका इस बैंक की सदस्यता लेने से रोकने के लिए कामयाब भी रहा। लेकिन आस्ट्रेलिया बाद में अमेरिका का साथ छोड़ गया।

एशिया अधिसरंचना निवेश बैंक की सदस्यता लेने से अपने पुराने संगियों को रोकने की अमेरिकी कोशिशों को बड़ा धक्का तब लगा जब इंग्लैण्ड ने बैंक में शामिल होने का ऐलान कर दिया। इंग्लैण्ड के इस कदम ने अन्य यूरोपीय शक्तियों जर्मनी, फ्रांस, इटली, आदि के उसके पीछे आने के लिए रास्ता साफ कर दिया।

साफ़ है कि अमेरिका के पुराने मित्रों के लिए अब अमेरिका डूबती नईया की तरह हैं। इसलिए वह इससे कूद कर चीनी नईया में सवार हो रहे हैं। चीन को वह भविष्य की बड़ी आर्थिक ताकत के तौर पर देख रहे हैं। इस तरह 10 दक्षिणी पूर्वी देशों के समूह (ASEAN) द्वारा चीन की पहल पर आसियान आर्थिक समुदाय (ASEAN Economic Community) 31 दिसम्बर 2015 को असतित्व में आ गया। यह समुदाय न सिर्फ एक एकल बाजार के तौर पर यूरोपीय यूनियन को ही नहीं बल्कि अमेरिका को भी टक्कर देगा, ऐसा कई विश्लेषकों का सोचना है।

'अडालरीकरण' के बढ़ते कदम : डॉलर के विश्व वर्चस्व को एक और चुनौती

विश्व में ज़्यादातर देशों का आज विदेशी मुद्रा भण्डार अमेरिकी डॉलर में है। इसे अन्य मुद्राओं से प्रतिस्थापित करने को अमेरिकी साम्राज्यवाद के रूसी प्रतिद्वन्दी 'अडॉलरीकरण' का नाम देते हैं। 'अडॉलरीकरण' को बढ़ावा देने के लिए रूस ने एक कानूनी भी बना दिया है जिसके मुताबिक कम्पनियों के अपने व्यापार का एक कम से कम निश्चित प्रतिशत रूबल में करना होगा। मई 2014 में ब्रिक्स सदस्यों रूस (विश्व का सबसे बड़ा ऊर्जा उत्पादक) और चीन (विश्व का सबसे बड़ा उर्जा उपभोक्ता) ने 400 बिलियन डॉलर के उर्जा समझौते पर हस्ताक्षर किए। इस समझौते के मुताबिक रूस की राजकीय ऊर्जा कम्पनी 'गाज़प्रोम' 'चीनी राष्ट्रीय पेट्रोलियम कार्पोरेशन' (CNPC) को तीस वर्षों के लिए 3.75 बिलियन क्यूबक फुट द्रवीयकृत प्राकृतिक गैस (LNG) की पूर्ति करेगी। यह रूस द्वारा यूरोप को की जा रही गैस पूर्ति का एक-चौथाई है।

इस समझौते में महत्वपूर्ण यह है कि यह समझौता यूआन और रूबल में हुआ है। जिससे अमेरिका खास तौर पर चिन्तित है। क्योंकि विश्व में अधिकतर तेल और गैस का व्यापार अमेरिकी डॉलर में होता है जिसके कारण देशों को अमेरिकी मुद्रा का भण्डार रखना पड़ता है जो कि अमेरिका को बड़ी आर्थिक शक्ति प्रदान करता है।

विश्व बैंक के भूतपूर्व मुलाजिम और अर्थशास्त्री पीटर कोनिग का रूस-चीन ऊर्जा समझौते के बारे में कहना है, ''यह समझौता प्रतीकात्मक है क्योंकि रूस का कुल वार्षिक हाईड्रोकार्बन व्यापार 1 ट्रिलीयन अमेरिकी डॉलर है। यह समझौता यह भी दिखाता है कि रूस और चीन व्यापार, राजनीति और रक्षा मामलों में मज़बूत गठबन्धन बना रहे हैं। इस अर्थ में हाँ, यह गैस समझौता डॉलर का क्षरण कर रहा है।''

कोनिग का कहना है कि ब्रिक्स देशों में ''अडॉलरीकरण की बड़ी कोशिशें'' हो रही हैं। इस ''अडॉलरीकरण'' की परिघटना का नेतृत्व रूस और चीन कर रहे हैं। यह जून 2014 से रूबल और यूआन की बड़ी राशियों की अदला-बदली कर रहे हैं। अक्टूबर 2014 में चीनी और रूसी केन्द्रीय बैंकों ने 150 बिलियन यूआन का द्विपक्षीय स्थानीय मुद्रा अदला-बदली का तीन वर्ष का समझौता किया।

जुलाई 2015 में रूस के केन्द्रीय बैंक की गवर्नर ऐल्वीरा नाबीऊलिना ने एक ब्यान में कहा कि ब्रिक्स के अन्य देशों के साथ भी ऐसे ही समझौतों पर विचार कर रही है। उसने कहा कि ''मुद्रा भण्डारों का एक हिस्सा नई व्यवस्था की तरफ़ मोड़ा जा सकता है।''

कोनिग का कहना है कि ''नई मुद्रा व्यवस्था की शुरुआत के संकेत मिल रहे हैं जो आने वाले समय में अपनी मुद्रा, सम्भव तौर पर मुद्राओं का समूह (Basket of Currencies) ज़ारी करेगा, जो कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के स्पेशल ड्राइंग राईट्स (SDR) के समान होगा, जो धीरे-धीरे एक आरक्षित मुद्रा डॉलर का स्थान ले लेगा। यह वास्तव में पहले से ही हो रहा है। दस वर्ष पहले विश्व के 90 प्रतिशत भण्डार डॉलर नामजद (Denominated) सिक्योरिटीज़ में थे। अब यह आँकड़ा घटकर 60 प्रतिशत रह गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का कहना है कि 2003 से उभर रही अर्थव्यवस्थाओं के अन्य (डॉलरों के अलावा) मुद्राओं में भण्डारों में 400 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। अगस्त 2013 से फरवरी 2014 तक, छः महीनों में दक्षिणी कोरिया ने अपने यूआन भण्डार में 25 गुणा वृद्धि की।

अमेरिकी डॉलर के लिए ''अडॉलरीकरण'' की इस प्रक्रिया के नतीजे बुरे साबित हो सकते हैं। विश्व अर्थव्यवस्था में डॉलर आज भी एक मुख्य आरक्षित मुद्रा है (हालांकि इसकी यह भूमिका पिछले समय में क्षरित होती गई है)। इस मुद्रा को अमेरिका का केन्द्रीय बैंक फेडरल रिजर्व छापता है। अगर डॉलर विश्व अर्थव्यवस्था में एक मुख्य आरक्षित मुद्रा बना रहता है तो अमेरिका अपने भुगतान संतुलन पर चालू खाते का कितना भी घाटा उठा सकता है। क्योंकि इसे तो सिर्फ नोट ही छापने हैं। अगर ''अडॉलरीकरण'' की प्रक्रिया आगे बढ़ती है तो कितना भी चालू खाते का घाटा उठा पाने का अमेरिका का विशेषाधिकार भी खत्म हो जाएगा।

दूसरी तरफ अगर ''अडॉलरीकरण'' के कारण अमेरिका अपना चालू खाते का घाटा घटाता है तो यहाँ माल की खप्त घटेगी, यहाँ लोगों का जीवन स्तर गिरेगा और देश के भीतर विस्फोटक स्थिति पैदा होगी। इसका असर इसकी सैन्य शक्ति पर पड़ेगा, इसे भी नुकसान उठाना पड़ेगा। जिसके अमेरिका के लिए गम्भीर नतीजे होंगे। इसीलिए अमेरिका हमेशा ''अडॉलरीकरण'' की कोशिशों का सख्त विरोध करता रहा है। यह भी माना जाता है कि अमेरिका के इराक पर हमले का एक महत्वपूर्ण कारण सद्दाम हुसैन का आरक्षित मुद्रा के तौर पर डॉलर से दूर होना भी था।

अमेरिका तथा जापान की पहल : ट्रांस-पेसिफिक पार्टनरशिप समझौता (TPPA)

ओबामा प्रशासन के समय टी.पी.पी. अमेरिका की एशिया में विदेश नीति के लिए अहम था। एशिया पेसिफिक क्षेत्र में चीन के बढ़ रहे प्रभाव को रोकने के लिए अमेरिकी साम्राज्यवाद ट्रांस-पेसिफिक पार्टनरशिप (टी.पी.पी.) समझौते को कामयाब करने की कोशिशों में जुटा रहा है। इस निवेश और क्षेत्रीय नियामक (Regional Regulatory) समझौते के लिए चल रही वार्ता में एशिया पेसिफिक क्षेत्र के 12 देश शामिल हैं। ये देश हैं – आस्ट्रेलिया, ब्रुनेई, कैनेडा, चीले, जापान, मलेशिया, मेक्सिको, न्यूज़ीलैण्ड, पेरू, सिंगापुर, अमेरिका और वियतनाम।

ट.प.प. पर वार्ताए 2005 में शुरू हुई थीं, तब इसका नाम ट्रांस पेसिफिक रणनीतिक आर्थिक साझेदारी समझौता (TPSEP) था। इस समझौते को 2012 तक पूरा किया जाना था। लेकिन समझौते के साझेदारों में कृषि, बौद्धिक अधिकार, सेवाएँ और निवेशों आदि पर कई प्रकार के विवाद थे। टी.पी.पी. को कामयाब करने का ओबामा प्रशासन का एक महत्वाक्षांशी कार्यक्रम था। टी.पी.पी. समझौते का दायरा व्यापक है। इसमें मालों का व्यापार, व्यापार के राह की तकनीकी बाधाएँ, सेवाओं का व्यापार, बौद्धिक सम्पत्ति, सरकारी खरीद और प्रतिस्पर्धा नीति आदि शामिल थे। इसके अलावा इसके सदस्य एक दूसरे के माल पर आयात पर कर नहीं लगाते।

टी.पी.पी. समझौता दो कारणों से अमेरिका के लिए महत्वपूर्ण था। पहला कारण यह है कि एशिया पेसिफिक क्षेत्र में जो क्षेत्रीय एकीकरण की कोशिशें हो रही हैं अमेरिका उनसे बाहर रह जाने से डरता था। अमेरिका का एक-चौथाई से अधिक निर्यात एशिया को है और यहाँ इसे एशियाई देशों के आपसी व्यापार के मुकाबले का सामना करना पड़ रहा है। अगर अमेरिका क्षेत्रीय समझौतों से अलग रह जाता है तो इसका फायदा इसके प्रतिद्वन्दियों, खासकर चीन को होगा। एक छोटे से पूर्वी एशियाई स्वतंत्र व्यापार क्षेत्र के बनने से ही अमेरिका के इस क्षेत्र को निर्यातों में 25 बिलियन डॉलर की गिरावट आई। आसीयान (ASEAN), अपेक (APEC) और टी.पी.पी. सब खुद को 'एशिया प्रशांत (पेसिफिक) का स्वतंत्र व्यापार क्षेत्र'(FTAAP) के तौर पर पेश करते हैं। यह भविष्य का एक सम्भावित व्यापार ब्लॉक (Bloc) है, जिसकी विश्व व्यापार में 50 प्रतिशत से अधिक हिस्सेदारी होगी। अमेरिका इस व्यापार ब्लॉक का नेतृत्व अपने हाथ में रखना चाहता है और चीन अपने हाथ में, साम्राज्यवादियों और उनके नीति-निर्माताओं की नज़रों में एशिया प्रशांत क्षेत्र की महत्वपूर्ण जगह है। उनकी नज़रों में यह क्षेत्र आर्थिक विकास में अग्रणी भूमिका निभाने वाला है। वे वर्तमान सदी को 'एशियाई सदी' का नाम भी देते हैं। इसलिए इस क्षेत्र पर साम्राज्यवादियों की खास नज़र है।

अमेरिका का दूसरी मुख्य रणनीतिक गुणा-भाग खासकर इसके एशियाई व्यापारिक विरोधियों के कारण है। चीन का उत्थान, एशिया प्रशांत व्यापार में अमेरिकी वर्चस्व और इसके कूटनीतिक प्रभाव के लिए बड़ी चुनौती पेश कर रहा है। लेकिन ट्रम्प ने अमेरिकी राष्ट्रपति बनते ही इस समझौते से अमेरिका के बाहर होने का फैसला कर दिया। ट्रम्प ने अपने चुनाव प्रचार के दौरान वोटरों से इस समझौते से बाहर आने का बादा किया था। ट्रम्प के इस फैसले के पीछे का कारण अमेरिका में रोज़गार खत्म होने का खतरा बताया जा रहा है। अमेरिका के टी.पी.पी. से बाहर होने पर कुछ समय तक इस समझौते के भविष्य को लेकर असमंजस की स्थिति बनी रही। लेकिन अब जापान, अमेरिका के बिना ही टी.पी.पी. को पुन:जीवित करने की कोशिशों में जुटा है। उधर अमेरिका का शासक वर्ग इस समझौते को लेकर बँटा हुआ है। अगर जापान इस समझौते को पुन:जीवित करने में कामयाब होता है तो भविष्य में अमेरिका के भी इसमें फिर से शामिल होने की उम्मीद है। टी.पी.पी. में अमेरिका के शामिल होने से जापानी ऑटो कम्पनियों को अमेरिका का बड़ा बाज़ार हासिल होगा। इसलिए जापानी साम्राज्यवादी भी इस समझौते के पुन:जीवित होने पर अमेरिका के इसमें लौट आने की उम्मीद कर रहे हैं।

अमेरिकी व रूसी साम्राज्यवाद एक बार फिर आमने-सामने : टकराव का लगातार फैलता दायरा

1956 में सोवियत यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी की 20वीं कांग्रेस में इसका नेतृत्व संशोधनवादी ख्रुश्चेव गुट ने हथिया लिया। इस तरह एक समाजवादी देश को सामाजिक-साम्राज्यवादी देश में बदल दिया गया। पूँजीवाद-साम्राज्यवाद का यह एक ऐसा रूप था जहाँ राजकीय बुर्जुआज़ी उजरती श्रम का शोषण करती थी। इस समय से सामाजिक-साम्राज्यवादी सोवियत यूनियन अपने प्रभाव क्षेत्रों के विस्तार के लिए अमेरिकी साम्राज्यवाद के साथ होड़ के संघर्ष में कूद पड़ा। 1991 में सोवियत यूनियन के टूटने से यहाँ राजकीय पूँजीवाद का भी अन्त हो गया।

अमेरिका और सामाजिक-साम्राज्यवादी सोवियत यूनियन के बीच 1956 में शुरू हुआ 'शीत युद्ध' 1991 में सोवियत यूनियन के पतन के साथ समाप्त हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में इससे एक तीखा बदलाव आया। इसने अमेरिका के लिए नए आर्थिक और रणनीतिक अवसरों का रास्ता साफ किया। अस्थाई तौर पर इस चुनौती रहित विश्व में अमेरिकी साम्राज्यवाद ने 'विश्व पुलिसिए' की भूमिका निभानी शुरू कर दी। इसने नाटो के पूर्वी यूरोप की ओर विस्तार की कोशिशें तेज़ कर दीं।

बोरिस येल्तसिन के नेतृत्व में रूस ने अपनी अर्थव्यवस्था का समायोजन शुरू किया। इसे पश्चिमी पूँजीवादी देशों की तर्ज पर ढाला गया। पश्चिमी साम्राज्यवादी देशों की पूँजी के लिए इसने अपने दरवाजे बड़े स्तर पर खोल दिए।

येल्तसिन ने पश्चिमी सलाहकारों और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की मदद से रूसी अर्थव्यवस्था में कई 'सुधार' किए ताकि तबाह-हाल अर्थव्यवस्था को पैरों पर खड़ा किया जा सके और आर्थिक वृद्धि दर को बढ़ाया जा सके। इन सुधारों में कीमतों को नियंत्रण से मुक्त करना, विशेष सब्सिडियों का खात्मा, सरकारी संस्थानों का निजीकरण, सामाजिक खर्चों में कटौती आदि शामिल था। इन सुधारों को तेज़ी से लागू करने की शर्त पर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने रूस को कर्ज दिए। येल्तसिन द्वारा शुरू किए गए इन आर्थिक सुधारों का नतीजा था कि 1991 से पहले जहाँ सोवियत यूनियन में निजी क्षेत्र का अस्तित्व नामात्र था वहाँ अब रूस की अर्थव्यवस्था में 1997 में निजी क्षेत्र का हिस्सा 70 प्रतिशत हो गया था।

लेकिन ये तेज़ रफ्तार आर्थिक सुधार भी रूस को मन्दी से न उभार सके। रूसी हुक्मरानों को विदेशों से कर्ज मिलने व विदेशी प्रत्यक्ष निवेश की जो उम्मीदें थी वह भी पूरी नहीं हुईं। रूस के सरकारी तंत्र में भ्रष्टाचार सारे रिकार्ड तोड़ने लगा। पूँजीपतियों में कम समय में मुनाफे हासिल करने की दौड़ तेज़ हो गई। पूँजीवादी गुटों के आपसी झगड़े बढ़ने लगे। नतीजतन रूस को एक नए संकट ने आकर घेर लिया।

1991-97 के बीच रूस के आर्थिक उत्पादन में तीखी गिरावट आई, यह 40 प्रतिशत घट गया। बेरोजगारी की दर 13 से 15 प्रतिशत तक पहुँच गई। रूस की मेहनतकश जनता पर इन आर्थिक सुधारों ने कहर बरपा किया। अमीर-गरीब की खाई दिन-ब-दिन फैलती गई। रूस में लोगों की जीवन प्रत्याश (Life Expetency) 70 वर्ष से घटकर 65 वर्ष रह गई। आधुनिक औद्योगिक देशों में यह गिरावट अभूतपूर्व थी।

1998 में रूस को एक वित्तिय संकट ने जकड़ लिया। रूस के स्टॉक, बॉण्ड, और मुद्रा बाज़ार औंधे मुँह गिर पड़े। रूसी मुद्रा रूबल के मूल्य में 60 प्रतिशत की गिरावट आई। वास्तविक उज़रतें 2/3 गिर पड़ीं। इस संकट ने येल्तसिन का भी पत्ता भी साफ़ कर दिया। रूस की इस बुरी हालत का फायदा अमेरिकी साम्राज्यवाद ने खूब लिया। 1990 के दशक में अमेरिका ने बाल्टिक और पूर्वी यूरोप के देशों को नाटों में शामिल करने की ज़ोरदार कोशिशें की। 1998 का वित्तीय संकट रूस के इतिहास में एक मोड़-बिन्दु साबित हुआ। व्लादिमीर पुतिन रूस का राष्ट्रपति बना तो उसने रूस की अर्थव्यवस्था और राजनीति को नई दिशा देनी शुरू की। रूस के पूँजीपति वर्ग ने राज्य के रणनीतिक दिशा-निर्देशों के तहत एक लड़ाकू मुद्रा (Posture) धारण करनी शुरू की। पुतिन ने रूसी राज्य को पुन:शक्तिशाली बनाने की कोशशों शुरू की। देश के ऊर्जा, बैंकिग और संचार क्षेत्र को राजकीय नियंत्रण में लाया गया। कच्चे माल के उद्योगों जैसे कि प्राकृतिक गैस और तेल, खनिज, और धातुओं को पहल दी गई। विश्व में बढ़ रही कच्चे माल की माँग के चलते रूस को

फायदा मिला। रूस में प्राकृतिक गैस के विश्व में सबसे बड़े भण्डार हैं और रूस दुनिया का दूसरा सबसे बड़ा तेल उत्पादक देश है।

राजकीय सैन्य उद्योग को पुनर्जीवित किया गया। इससे विश्व में हथियारों के बाज़ार में रूस का हिस्सा बढ़ा। रूसी फौज को मज़बूत करने, इसके नवीनीकरण के लिए रूस को धन मुहैया हुआ।

कभी सोवियत यूनियन का हिस्सा रहे जॉर्जिया, यूक्रेन और केन्द्रीय एशिया और काकेशश के अन्य देशों में रूस ने अपना प्रभाव बढ़ाना तय किया।

अमेरिकी साम्राज्यवाद के विरोध में नए रूसी हुक्मरानों ने पूर्व की ओर चीन से साथ भू-राजनीतिक गठबन्धन और पच्छिम में यूरोपीय यूनियन के साथ भू-आर्थिक गठबन्धन बनाना तय किया।

विचारधारात्मक तौर पर पुतिन ने राष्ट्रवादी-शाविनिस्टि राजनीतिक माहौल को हवा दी और रूसी साम्राज्यवाद के पुनरुत्थान का सामाजिक आधार तैयार किया।

1999 से 2007 के बीच रूसी अर्थव्यवस्था की वृद्धि दर 7 प्रतिशत रही। यह अन्य पश्चिमी औद्योगिकृत (खासकर आज के समूह – 7) देशों से अधिक थी। रूसी सटॉक बाजार विश्व के सबसे तेजी से बढ़ने वाले सटॉक बाज़ारों में से एक था। चीन और जापान के बाद अब रूस का अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा रिजर्व सबसे बड़ा था। रूस के डॉलर, यूरो और अन्य मुख्य विश्व मुद्राओं के रूप में विदेशी मुद्रा भण्डार उसके निर्यातों और यहाँ आई विदेशी पूँजी के रूप में कमाए हुए हैं। डॉलर को रखने या बेचने के रूस के फैसले डॉलर की अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति को उल्लेखनीय रूप से प्रभावित कर सकते हैं।

2000 के दशक में अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार में तेल, प्राकृतिक गैस और अन्य प्राकृतिक संसाधनों की बढ़ी कीमतों ने रूस की निर्यातों से आमदनी को पंख लगा दिए। रूस के निर्यातों में हुई वृद्धि ने रूसी अर्थव्यवस्था को कच्चे माल के क्षेत्रों से आगे विकसित किया। इसने 1991 से पहले के समय के बन्द पड़े उद्योगों को चालू किया। रूस के लिए अपने उद्योगों के आधुनिकीकरण के लिए उन्नत टेक्नालॉजी का आयात सम्भव बनाया। इन कारकों ने भी रूसी साम्राज्यवाद के पुनरुत्थान में अहम भूमिका अदा की।

ऊर्जा क्षेत्र रूस का रणनीतिक क्षेत्र है। रूस की राजकीय प्राकृतिक गैस कम्पनी गाज़प्रौम रूस के रणनीतिक ऊर्जा क्षेत्र की हिरावल है। यह कम्पनी रूस के सकल घरेलू उत्पादन का 8 प्रतिशत है। गाज़प्रौम विश्व की सबसे बड़ी गैस उत्पादक कम्पनी है। गाज़प्रौम विश्व के एक चौथाई से एक तिहाई तक प्राकृतिक गैस भण्डार को नियंत्रित करती है। विश्व का सबसे बड़ा गैस पाईप लाईन नेटवर्क इसका है।

पश्चिमी यूरोप अपने प्राकृतिक गैस उपभोग का 25 प्रतिशत रूस से हासिल करता है। रूस यूरोप के देशों के साथ लम्बे समय से ऊर्जा समझौतों के जरिए यूरोपीय यूनियन – नाटो गठबन्धन को कमज़ोर करने की कोशिशें करता रहता है। रूस समय-समय पर ऊर्जा को एक राजनीतिक हथियार के तौर पर इस्तेमाल करता रहता है। 2006 में जब यूक्रेन ने नाटो की सदस्यता हासिल करने की कोशिश की तो रूस ने यूक्रेन को इससे रोकने के लिए इसे गैस की आपूर्ति बन्द कर दी।

साम्राज्यवादियों में तीव्र हुई प्रतिस्पर्धा के नतीजे के तौर पर इनमें हथियारों की दौड़ भी तेज़ हो गई है। सभी अग्रणी साम्राज्यवादी देश अपने सैन्य खर्चों में वृद्धि कर रहे हैं। अमेरिका, चीन, और रूस इस दौड़ में सबसे आगे हैं।

सैन्य खर्च के मामले में अमेरिका का आज भी कोई सानी नहीं है। हालांकि चीन और रूस लगातार अपने सैन्य खर्च बढ़ा रहे हैं लेकिन अमेरिका से अभी भी काफ़ी पीछे हैं। लेकिन दूसरी तरफ यह भी सच है कि एक तरफ अमेरिका और दूसरी तरफ रूस, चीन के सैन्य खर्च में फर्क लगातार कम होता जा रहा है।

नीचे दी गई सारणियों से यह तस्वीर काफी स्पष्ट हो जाती है।

अमेरिका और रूस का सैन्य खर्च (बिलीयन अमेरिकी डॉलर)

	1992	1999	2000	2009	2016
रूस	1	6.6	9.6	57.1	69.2
अमेरिका	306.1	280.9	301.6	668	611

स्रोत – Stockholm International Peace Research Institute (SIPRI) Data Base

उक्त तालिका दिखाती है कि 1992 से 1999 के बीच रूस का सैन्य खर्च मामूली ही था। 1991 में अमेरिका का सैन्य खर्च रूस से 40 गुणा अधिक था। 2000-2009 के बीच रूस का सैन्य खर्च तेज़ी से बढ़ा है। अमेरिका का सैन्य खर्च भी इस बीच तेज़ी से बढ़ा है। 2009 में यह 2000 से दो गुणा से अधिक था। दूसरी तरफ इस अर्से के दौरान रूस का सैन्य खर्च लगभग छः गुणा बढ़ा है। इस अर्से के दौरान अमेरिका का सैन्य खर्च रूस से 11 गुणा अधिक था।

पिछले कुछ वर्षों के दौरान चीन ने अपना सैन्य खर्च तेज़ी से बढ़ाया है। सैन्य खर्च के मामले में चीन का अमेरिका के बाद दूसरा स्थान है। 2016 में चीन का सैन्य खर्च 215 बिलियन डॉलर था (SIPRI ESTIMATE) ।

2009 के मुकाबले 2016 में अमेरिका के सैन्य खर्च में कुछ गिरावट आई है जबकि रूस के सैन्य खर्च में लगातार वृद्धि जारी है। 2016 में अमेरिका और रूस के सैन्य खर्च में फर्क कम हुआ है।

पुतिन काल में रूस ने निर्यातों से जो कमाई की उसका इस्तेमाल उसने सैन्य खर्च बढ़ाने के लिए किया। इस समय रूस हथियारों का दूसरा (अमेरिका के बाद) सबसे बड़ा व्यापारी है। रूस अपने औद्योगिक और टेक्नालॉजीकल आधार को कायम रखने के लिए बड़े पैमाने पर हथियारों के निर्यात पर निर्भर है। हथियार उत्पादन के क्षेत्र में रूस ने बेहतरीन टेक्नालॉजी विकसित और तैनात की है। हथियारों की संख्या और हस्तांत्रण मध्य एशिया, मध्यपूर्व और लातिनी अमेरिका में भू-राजनीतिक प्रभाव फैलाने के लिए रूस का जरिया है। अमेरिका के बिल्कुल पड़ोस में स्थित अमेरिका का विरोधी वेनेजुएला रूसी हथियारों का एक मुख्य ग्राहक है। ईरान को आधुनिक हथियारों की पूर्ति ने इस क्षेत्र में रूस की उपस्थिति और प्रभाव को फैलाया है। रूसी हथियारों ने एक हद तक अमेरिका को ईरान के खिलाफ़ सैन्य कार्रवाई से भी रोका है।

नाटो के पूर्वी यूरोप की ओर विस्तार के जरिए अमेरिका लगातार रूस की घेराबन्दी कर रहा है। यह रूस के किसी भी भावी परमाणु हमले को बेअसर करने के लिए पोलैण्ड में मिसाइल डिफेंस शील्ड निर्मित कर रहा है। हालांकि इसके पीछे अमेरिका यह बहाना बना रहा है कि वह ईरान जैसे ''दुष्ट'' राज्यों की मिसाइलों को इण्टरसेप्ट करने के लिए यह मिसाइल शील्ड बना रहा है। इसके बारे में रूस के नाटो में दूत दमित्री रोगोज़िन का कहना है कि, ''अमेरिका रणनीतिक संतुलन को अपने पक्ष में करने के लिए रूस के परमाणु निरोधक क्षमता (Nuclear Deterence potential) को कमज़ोर बनाना चाहता है। क्रेमलिन अमेरिका द्वारा मूर्ख बनाए जाने से तंग आ चुका है। . . . अगर नाटो अपने सुरक्षा कवच को उन्नत बनाना है तो दुर्भाग्य से हमें भी अपनी तलवारें तेज करनी पड़ेंगी।'' रूस और अमेरिका दोनों ही साम्राज्यवादी देश अपने हथियारों के जखीरों को और बड़ा और अधिक आधुनिक बनाने की दौड़ में लगे हुए हैं।

अगर आज दुनिया में सबसे बड़ी सैन्य शक्ति अमेरिका है तो रूस इस मामले में दूसरे नम्बर पर है। रूस और अमेरिका की सैन्य शक्ति भिन्न-भिन्न कारणों से है। अधिक अड्डों, फाइटर जैटों और बम्बारों से हवा में अमेरिका का दबदबा है जबकि जमीन पर अधिक टैंकों, तोपों और जमीनी व्हीकलों से रूस का दबदबा है। सागर में दोनों की शक्ति लगभग बराबर है। इस मामले में अधिक सबम्रीनज़, एयरक्राफ्ट केरीयर्ज़ और नाशकों (Destroyers) के कारण अमेरिका

का पलड़ा थोड़ा सा भारी है। अमेरिका का सैन्य खर्च रूस से लगभग दस गुणा अधिक है। लेकिन दो परमाणु शक्तियों के बीच परम्परागत सैन्य शक्ति की तुलना का कोई अर्थ नहीं रह जाता। हालांकि पिछले दो दशकों में इन दोनों साम्राज्यवादी देशों ने अपने परमाणु जखीरे में कटौती की है लेकिन अभी भी दोनों के पास हज़ारों परमाणु हथियार हैं।

आज अपने प्रभाव क्षेत्रों के विस्तार और रसूख कायम रखने के लिए साम्राज्यवादी शक्तियों में धरती के हर कोने में प्रतिस्पर्धा जारी है और दिन-ब-दिन तीखी हो रही है। लातिनी अमेरिका, अफ्रीका, मध्य एशिया, मध्य पूर्व, पूर्वी यूरोप, आर्कटिक क्षेत्र इस प्रतिस्पर्धा के मुख्य अखाड़े हैं। मध्य पूर्व, पूर्वी यूरोप और आर्कटिक में अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा बेहद तीखी है। इन क्षेत्रों की चर्चा करने से पहले हम लातीनी अमेरिका और अफ्रीका में जारी अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा की चर्चा करेंगे।

लातीनी अमेरिका

1991 में सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद के टूटने, बिखरने के बाद रूस की कमज़ोर हालत का फायदा लेकर अमेरिका और यूरोप के साम्राज्यवादी देशों ने पूर्वी यूरोप की ओर पैर फैलाने शुरू कर दिए, अमेरिका इस क्षेत्र के कई देशों को नाटो में शामिल करने में कामयाब रहा।

दूसरी ओर जैसे ही रूसी साम्राज्यवाद अपनी बुरी हालत से उभरा इसने अमेरिकी साम्राज्यवाद के परम्परागत प्रभाव क्षेत्र लातिनी अमेरिका की तरफ पैर फैलाने शुरू कर दिए। 1997 में रूस ने लातीनी अमेरिका में कदम रखे। 2003 में रूस ने इस क्षेत्र के बढ़ते विश्वव्यापी आर्थिक महत्व को पहचाना और इस क्षेत्र के देशों को हथियार बेचने शुरू कर दिए।

कई लातिनी अमेरिकी देश मास्को से आर्थिक फायदों के लिए इसके साथ बड़े व्यापारिक समझौते या बड़े रणनीतिक सम्बन्धों में दाखिल हुए। जॉर्जिया के नाटो में दाखिले को रोकने के लिए रूस द्वारा कब्जाए गए क्षेत्रों अबखाजिया और दक्षिणी उसेतीया को निकारागुआ ने मान्यता दी ताकि अपने सोवियत युग के हथियारों को बदलने के लिए रूस से आर्थिक और सैन्य सहायता हासिल कर सके। क्यूबा का रूस के साथ मज़बूत सम्बन्धों का सिलसिला जारी है। वेनेजुएला रूस से बड़े स्तर पर हथियार खरीद रहा है।

लातिनी अमेरिका की रूस के लिए अहमियत 2008 में उस समय के रूस के प्रधान मंत्री व्लादिमीर पुतिन और विदेश मंत्री सर्गेई लावरोव के इस बयान से स्पष्ट हो जाती है, ''उभर रहे बहु-ध्रुवीय विश्व की जंजीर में लातीनी अमेरिका एक ध्यान देने लायक कड़ी है।'' (FBIS SOU: Russian Ministory of Foregin Affairs, in English, November 17, 2008. S. G. Gutterman, "Putin Says Latin America Ties ti be a Top Priority", Boston Globe, 26 September 2008)

इसी तरह का बयान लावरोव ने 2006 में भी दिया था, ''हाल ही के वर्षों में लातिनी अमेरिका और कैरीबीआन बेसिन के देशों ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की वर्तमान व्यवस्था में अहम स्थान हासिल कर लिया है। हमारा उनके साथ सम्पर्क सारे विश्व समुदाय की संयुक्त समस्याओं से निपटने के लिए रूस की अन्तर्राष्ट्रीय कोशिशों का अहम अंग है।'' (M. Bain, Russian Cuba Relationship Since 1992: Continuing Camaraderie in a Post Soviet World, P.130)

रूसी साम्राज्यवाद अमेरिका विरोधी अपनी अवस्थितियों के लिए राजनीतिक समर्थन हासिल करने के लिए तुलनात्मक आर्थिक लाभ के क्षेत्रों (ऊर्जा, हथियार बेचने, स्पेस लांचस, परमाणु रियेक्टर बेचने आदि) का इस्तेमाल कर रहा है। लातिनी अमेरिका में अपना प्रभाव बढ़ाकर रूस यह दिखाना चाहता है कि अगर अमेरिका रूसी नेतृत्व वाले

'स्वतंत्र राज्यों की कामनवेल्थ' में दखल देगा तो वह इसका बदला लातिनी अमेरिका में लेगा। 2000-2008 की आर्थिक रिक्वरी के कारण और इस समय दौरान अमेरिका की आर्थिक गिरावट के कारण रूस इसमें कामयाब रहा।

बेशक इस क्षेत्र में रूसी दखल की रफ़तार धीमी है। क्यूबा, निकारागुआ, और वेनेजुएला ही इस क्षेत्र में अधिक खुलकर रूस के साथ आए हैं। लेकिन रूस की इस क्षेत्र में बढ़ रही दखलांदाजी अमेरिकी चिन्ताओं में जरूर वृद्धि कर रही है।

मध्यपूर्व

मध्यपूर्व पिछले वर्षों के दौरान साम्राज्यवादी ताकतों, खासकर अमेरिका और रूस के बीच तीखे टकराव का अखाड़ा बना हुआ है। इस क्षेत्र में ऊर्जा के बड़े भण्डार है, इसलिए साम्राज्यवादी ताकतों की गिद्ध नज़र हमेशा इस क्षेत्र पर रही है। 1991 में सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद के पतन के बाद मध्य पूर्व पर अमेरिकी हमला तेज़ हुआ। अमेरिका ऊर्जा स्रोतों के विशाल भण्डार वाले देशों में अपने पक्ष की हकूमत बिठाना चाहता था। अमेरिकी साम्राज्यवाद ने पहले इराक से सद्दाम हुसैन की हकूमत को पलटा, और फिर लीबिया में गद्दाफी की हकूमत को।

पिछले कुछ वर्षों से रूस ने भी इस क्षेत्र में दखल बढ़ाया है। रूस इस क्षेत्र का एक बड़ा हथियार विक्रेता है। स्टाकहोम अन्तर्राष्ट्रीय शांति खोज संस्था (SIPRI) के मुताबिक 2008 से 2012 के बीच रूस द्वारा हथियारों के निर्यात में 27 प्रतिशत हिस्सा मध्य पूर्व और उत्तरी अफ्रीका का था। 2011 की शुरुआत की ''अरब बसंत'' के बाद इस क्षेत्र में रूसी दखल ने और गति पकड़ी। 1991 में सोवियत यूनियन टूटने के बाद के लगभग एक चौथाई सदी के अर्से में अब इस क्षेत्र में रूसी प्रभाव सबसे शिखर पर है। मध्य पूर्व के देश सीरिया, मिस्र, इराक, साऊदी अरब, संयुक्त अरब अमीरात, उत्तरी अफ्रीकी देश लीबिया और अलजीरिया रूसी हथियारों के बड़े खरीददार हैं।

रूस के संगी चीन के भी आर्थिक हित इस क्षेत्र के साथ जुड़े हुए हैं। तुर्की सहित मध्य पूर्व में चीनी निर्यात 2005 से 2010 के बीच लगभग दोगुना हो गए हैं। यह 28 बिलियन डॉलर से बढ़कर 59 बिलियन डॉलर हो गए हैं। इस अर्से के दौरान इस क्षेत्र से इसके आयात 34 बिलियन डॉलर से बढ़कर 65 बिलियन डॉलर हो गए। चीन मध्य पूर्व से तेल का संसार का सबसे बड़ा आयातक है। ईरान के कुल तेल निर्यात का 23 प्रतिशत चीन को जाता है जो कि इसकी कुल जरूरत का 11 प्रतिशत है।

मध्यपूर्व में अमेरिका और उसके संगियों का लगभग मुकम्मल सैन्य वर्चस्व है। इस क्षेत्र का सबसे बड़ा अमेरिकी सैन्य अड्डा कतर में है। बहरीन में अमेरिकी नौसेना का पाँचवां बेड़ा है। अबूधाबी में फ्रांसीसी सैन्य अड्डा निर्मित हो चुका है। ओमान में अमेरिका और ब्रिटेन का संयुक्त सैन्य अड्डा है। ऊर्जा उत्पादक देशों में अमेरिका और इसके संगियों का सैन्य अस्तित्व रूस-चीन के लिए चिन्ता का बड़ा विषय है।

टाईमस आफ़ लंडन की एक रिपोर्ट के मुताबिक इराक के तेल भण्डार 350 बिलियन बैरल हो जाएँगे जबकि पुराना अन्दाजा 143 बिलियन बैरल का था। इराक का यह तेल भण्डार विश्व का सबसे बड़ा होगा। इस से तेल उत्पादक देशों में इराक की स्थिति रणनीतिक तौर पर सबसे अधिक अहम हो जाती है।

ईरान के पास विश्व का दूसरा सबसे बड़ा गैस भण्डार है। ईरान का यह गैस भण्डार 33 बिलियन क्यूबक मीटर है। तेल अध्ययन के ईरानी केन्द्र के मुताबिक तेल भण्डार के मामले में ईरान का विश्व में तीसरा नम्बर है और यह विश्व का दूसरा सबसे बड़ा तेल निर्यातक देश है। आने वाले वर्षों में ईरान और इराक ऊर्जा क्षमताओं के विकास पर 100 से 500 बिलियन डॉलर तक खर्चेंगे। इस सब को रूस और चीन ललचाई नज़रों से देख रहे हैं। खासकर ईरान को जहाँ यूरोपीय कम्पनियों को निवेश की आज्ञा नहीं है।

ये सब कारण हैं जिनके चलते इस क्षेत्र में अमेरिका और उसके संगियों के सैन्य अभियानों का रूस-चीन ने और खासकर रूस ने तीखा विरोध किया। 1991 से ही अमेरिकी साम्राज्यवाद और उसके संगियों ने इस क्षेत्र में हकूमतें बदलने का अभियान चलाया हुआ है। इराक और फिर लीबिया में उन्हें कामयाबी भी मिली। इराक में शासन-परिवर्तन के बावजूद उसके नतीजे अमेरिकी साम्राज्यवाद के पक्ष में नहीं गये। लेकिन शासन परिवर्तन का यह अभियान सीरिया में आकर रूक गया जिसकी मुख्य वजह सीरियाई हकूमत के पक्ष में खुलेआम रूसी साम्राज्यवाद का आ जाना था। ईरान की हकूमत भी लम्बे समय से अमेरिका और उसके संगियों की आँख की किरकरी बनी हुई है। लेकिन ये ईरान पर हमला नहीं कर पाए। इसकी भी एक अहम वजह ईरानी हकूमत को रूसी साम्राज्यवाद का समर्थन है।

अमेरिकी साम्राज्यवाद और उसके संगियों और दूसरी तरफ रूसी साम्राज्यवाद के बीच सबसे तीखा टकराव तो सीरीयाई मामले में सामने आया है।

2012 में रूस ने अमेरिका और उसके संगियों द्वारा संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा काऊंसिल में सीरीया के बारे में लाए गए दो प्रस्तावों को वीटो किया। एक प्रस्ताव सीरीयाई संकट को अन्तर्राष्ट्रीय क्रिमीनल कोर्ट में लाने का था। इस प्रस्ताव को 65 देशों का समर्थन हासिल था। लेकिन रूस ने इसे वीटो कर दिया। दूसरा प्रस्ताव सीरीया पर पाबन्दियाँ लगाने के बारे में था। इसे रूस और चीन दोनों ने वीटो कर दिया।

फिर भी जब अमेरिका और उसके संगी सीरीया पर सैन्य हमले की तैयारी में जुटे रहे तो रूस सैन्य टकराव के लिए तैयार हो गया। रूसी जंगी बेड़े सीरीयाई सागरों में पहुँच गए।

यूरोपीय यूनियन टाईमस (EU Times) नामक अखबार की रिपोर्ट के मुताबिक रूसी राष्ट्रपति पुतिन ने रूस फौज को युद्ध की तैयारी करने के लिए कह दिया था। अमेरिका और इसके पश्चिमी संगियों को सख्त चेतावनी देते हुए कहा अगर अमेरिका या किसी और पश्चिमी देश ने सीरिया पर एक भी मिसाइल दागी तो रूसी फौज अमेरिका के मित्र साऊदी अरब को पूरी तरह तबाह और खत्म कर देगी।

सीरिया रूस का पुराना और वफादार मित्र रहा है। अगस्त 2013 में साऊदी अरब का सुरक्षा अध्यक्ष राजकुमार बानजर मास्को पहुँचा और सीरिया को छोड़ने के बदले 15 बिलियन डॉलर के सुरक्षा ठेके देने की पेशकश की। लेकिन रूस ने यह पेशकश ठुकरा दी। लीबिया के बाद सीरिया रूसी हथियारों का इस क्षेत्र में सबसे बड़ा खरीददार है और रूस लीबिया की तरह उसे खोना नहीं चाहता।

सीरिया में अमेरिकी समर्थन, प्रशिक्षण और हथियार प्राप्त "विद्रोहियों" और दूसरी तरफ रूसी सैन्य मदद पर टिकी असद सरकार के बीच गृहयुद्ध चलता रहा है और अमेरिकी साम्राज्यवाद को इसमें पीछे धकेल दिया गया है।

भूतपूर्व सोवियत गणराज्य : अन्तर्साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा का एक और अखाड़ा

1991 में सोवियत यूनियन के पतन के बाद रूसी संघ ने खुद को सोवियत यूनियन का कानूनी उत्तराधिकारी घोषित किया। रूस ने संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा काऊंसिल में सोवियत पोजीशन, परमाणु हथियार, सारे विश्व में इसके दूतघरों सहित कूटनीतिक सेवाएँ आदि विरासत में हासिल किए।

नाटो के विरोध में बना रूसी नेतृत्व वाला सैन्य गुट वार्सा समझौता खत्म हो गया। आने वाले कई वर्षों में रूस ने अपनी बुरी आर्थिक-राजनीतिक परिस्थित के कारण अमेरिकी साम्राज्यवाद का ''जूनियर पार्टनर'' बने रहना था। लेकिन अमेरिकी साम्राज्यवादियों ने नाटो को भंग न किया। हालांकि कई यूरोपीय राज्यों ने इस पर होने वाले सैन्य खर्च और अपनी सेनाओं की संख्या में कुछ कटौती जरूर की। लेकिन नाटो का भूगोलिक विस्तार लगातार जारी रहा। अमेरिकी साम्राज्यवादियों को इस बात का अन्दाजा था कि रूस जैसे ही अपनी आन्तरिक समस्याओं से उभरेगा, वह फिर से अन्तर्साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा में कूद पड़ेगा। इसलिए अमेरिका के नेतृत्व में नाटो ने रूस की घेराबन्दी जारी रखी।

'शीत युद्ध' के खात्मे के बाद नाटो का पहला विस्तार 3 अक्टूबर 1990 को हुए जर्मनी के एकीकरण के साथ हुआ। जुलाई 1997 में हंगरी, चेक गणराज्य और पोलैण्ड को नाटो में शामिल होने के लिए आमंत्रित किया गया और 1999 में ये देश बाकायदा नाटो के सदस्य बन गए। मार्च 2004 में सात अन्य पूर्वी और उत्तरी यूरोपीय देश नाटो में शामिल हो गए। ये देश थे : एस्तोनिया, लातविया, लिथुआनिया, स्लोवेनिया, स्लोवाकिया, बुलगारिया और रोमानिया। अप्रैल 2009 में करोशिया और अल्बानिया नाटो के सदस्य बने। जॉर्जिया और यूक्रेन को भी नाटो का सदस्य बनने का आमंत्रण दिया गया। नाटो के इन बढ़ते कदमों पर रूस बुदबुदाता तो शुरू से रहा है लेकिन नाटो द्वारा की जा रही रूस की घेराबन्दी पर रूस द्वारा एक दिन तो तीखी प्रतिक्रिया होनी ही थी।

अप्रैल 2008 में नाटो के बुखारेस्ट शिखर सम्मेलन में अमेरिकी राष्ट्रपति जार्ज बुश ने जॉर्जिया और यूक्रेन को नाटों में शामिल करने की कोशिशें शुरू की। दिसम्बर 2008 में इन देशों के नाटो में शामिल होने की अर्जी पर विचार किया जाना था। इन देशों के नाटो का सदस्य बनने से नाटो द्वारा रूस की घेराबन्दी और तंग हो जानी थी।

अगस्त 2008 में रूस ने जॉर्जिया पर हमला कर दिया। इससे रूस पक्षधर क्षेत्रों दक्षिणी ओसेतिया और अबख़ाज़िया को जॉर्जिया से अलग करके आज़ाद गणराज्य के तौर पर मान्यता दे दी। सोवियत यूनियन टूटने के बाद यह किसी देश पर रूस का पहला सैन्य हमला था। इस हमले का मकसद जॉर्जिया को नाटो में शामिल होने से रोकना था।

इन्हीं दिनों यूक्रेन के मामले पर रूसी और नाटो सेनाएँ आमने-सामने हैं। कई विश्लेषक इसे 'शीत युद्ध' की समाप्ति के बाद का सबसे बुरा पूर्व-पच्छिम संकट कह रहे हैं। ब्रिटेन के विदेश सचिव रहे विलीयम हेग का कहना है कि यह ''यूरोप में 21वीं सदी का सबसे बड़ा संकट है।'' नाटो के महासचिव रहे आन्द्रे फोग रासमुसेन का कहना है कि यह ''शीत युद्ध के खात्मे के बाद यूरोप की सुरक्षा और स्थिरता के लिए सबसे बड़ा खतरा है।''

वैसे तो सोवियत यूनियन टूटने के बाद ही यूक्रेन में पश्चिमी साम्राज्यवादी शक्तियाँ सक्रिय रही हैं लेकिन वर्तमान संकट की शुरुआत फरवरी 2014 में हुई जब यूक्रेन की पच्छिम-परस्त शक्तियों ने रूस पक्षधर राष्ट्रपति विक्टर यानूकोविच को पद से हटा दिया। नई बनी सरकार का पच्छिम की ओर स्पष्ट झुकाव था। पश्चिमी साम्राज्यवादी शक्तियों ने फरवरी 2014 में यूक्रेनी तख्तापलट को यूक्रेनी इंकलाब का नाम दिया जबकि रूस ने इसे नई पच्छिम परस्त सरकार को मान्यता नहीं दी।

मार्च 2014 में रूस ने यूक्रेन के एक अहम क्षेत्र क्रीमिया पर कब्जा कर लिया। पुतिन ने कहा कि रूस का यह कदम रूस की ''घेराबन्दी'' की पश्चिमी नीति की प्रतिक्रिया है।

क्रीमिया पर कब्जे ने रूस के काला सागर जंगी बेड़े की समस्या सुलझा दी। यूक्रेन की नई सरकार ने इसे क्रीमिया के स्वासतोपोल शहर से हटाने का संकल्प लिया था। काले सागर में कोई और जगह नहीं थी जहाँ रूस इस बेड़े का ठिकाना बना सकता था। क्योंकि अन्य हर जगह सर्दियों में पानी जम जाता है। इस तरह क्रीमिया को अपने में मिलाकर रूस ने इस क्षेत्र में रणनीतिक पकड़ मजबूत कर ली।

यह संकट जारी है। अमेरिका (और नाटो) यूक्रेन में रूस विरोधी ताकतों को हथियारबन्द कर रहा है। इस क्षेत्र में रूस और नाटो सेनाओं का जमघट बढ़ रहा है। नज़दीक भविष्य में इस संकट के हल होने का आसार कम ही हैं।

इसके अलावा आर्कटिक (उत्तरी ध्रुव) पर कब्जे के लिए भी रूसी और नाटो सेनाएँ आमने-सामने हैं। साम्राज्यवादी शक्तियों में आर्कटिक पर कब्जे के लिए संघर्ष भी दिन-ब-दिन तीखा होता जा रहा है।

एक उभरती हुई साम्राज्यवादी शक्ति के रूप में चीन

1949 में चीन में 20वीं शताब्दी की दूसरी महानतम क्रान्ति, चीन की नवजनवादी क्रान्ति सम्पन्न हुई। 1949 के बाद चीन ने समाजवादी निर्माण की दिशा में बड़े डग भरे। लेकिन 1976 में चीने में समाजवादी व्यवस्था को विपर्य

का सामना करना पड़ा जब चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर का डेंग सियाओ-पिङ का संशोधनवादी गुट कामरेड माओ की मृत्यु के बाद चीन की राज्यसत्ता पर काबिज होने में कामयाब हो गया। 1976 से चीन पूँजीवादी रास्ते पर चल पड़ा। और आज तक उभरती हुई साम्राज्यवादी शक्ति के रूप में हमारे सामने है। आज चीन भी दुनिया भर में सस्ती श्रम शक्ति तथा कच्चे माल के स्रोतों की लूट की साम्राज्यवादी होड़ में शामिल हो चुका है। चीन के उभार को समझने के लिए कुछ तथ्यों पर गौर कीजिए।

हम पहले ही देख चुके हैं कि पूँजी निर्यात के मामले में चीन अमेरिका के बाद दूसरे स्थान पर है। सैन्य साजो-सामान के मामले में चीन ब्रिटेन तथा फ्रांस को पीछे छोड़ चुका है। चीन की बढ़ती आर्थिक शक्ति के काफी अन्य तथ्य हम पहले दे चुके हैं। आज अमेरिका तथा रूस के बाद चीन दुनिया का तीसरा बड़ा हथियार निर्यातक देश है। चीन दक्षिण चीन सागर के कई टापुओं, जहाँ पर उर्जा के संसाधनों का बड़ा जखीरा बताया जा रहा है तथा यह एक महत्तवपूर्ण भू-रणनीतिक खित्ता है, पर कबजा करने की कोशिश में है। अफ्रीका तथा एशिया के कई देशों में बड़े पैमाने पर निवेश कर रहा है। ''वन बेल्ट, वन रोड'' परियोजना के तहत दुनिया के बड़े हिस्से में बड़े पैमाने पर अवरचनागत क्षेत्र में निवेश की योजना बना रहा है। एशिया इनफ्रास्ट्रक्चर इन्वेस्टमेंट बैंक की स्थापना के जरिए चीन अपनी वित्तीय शक्ति भी बढ़ा रहा है। चीन आज दुनिया की दूसरी सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था बन चुका है। पिछली लगभग एक चौथाई सदी से चीनी अर्थव्यवस्था की वृद्धि दर काफी ऊँची रही है (हाल-फिलहाल गिरावाट आ रही है)। अपनी अर्थव्यवस्था की ऊँची दर बनाए रखने के लिए सस्ती श्रम शक्ति तथा सस्ते कच्चे माल की इसकी हवस बहुत ज्यादा है। इसलिए चीन अन्य देशों खासकर अफ्रीकी देशों में यह पूँजी निवेश लगातार बढ़ा रहा है। दक्षिण चीन सागर के टापुओं पर भी चीन अपनी मालकी का दावा कर रहा है। यहाँ पर चीन का जापान तथा संयुक्त राज्य अमेरिका से तीखा टकराव बना हुआ है। अफ्रीकी देशों में चीन का लगातार बढ़ रहा निवेश, अमेरिकी तथा अन्य साम्राज्यवादी देशों के लिए चुनौती बन रहा है। अमेरिका के विरुद्ध उत्तर कोरिया को भी चीनी हिमायत हासिल है। अन्तर-साम्राज्यवादी कलह के हॉट स्पाट बने हुए/तथा बनने की सम्भावना रखने वाले इन खित्तों, खासकर अफ्रीका तथा दक्षिण चीन सागर, के बारे में थोड़ी चर्चा जरूरी है।

अफ्रीका : अफ्रीकी महाद्वीप के देश पिछले लम्बे समय से साम्राज्यवादी शोषण उत्पीड़न के शिकार रहे हैं और यह सिलसिला आज तक जारी है। यहाँ की प्रचूर प्राकृतिक सम्पदा पर साम्राज्यवादियों की हमेशा से गिद्ध दृष्टि रही है। यहाँ के हुक्मरानों ने साम्राज्यवादियों द्वारा सुझाई नवउदारवादी नीतियों अपनाई और देशी-विदेशी पूँजी के लिए यहाँ की मेहनतकश जनता तथा प्राकृतिक सम्पदा के शोषण का रास्ता साफ किया। तरह-तरह के बहाने के तहत यहाँ पर साम्राज्यवादी फौजी दखलान्दाजी बढ़ी है। अगस्त 2014 में वाशिंगटन में अपनी तरह का पहला अफ्रीका/संयुक्त राज्य ''शिखर सम्मेलन'' आयोजित किया गया जो कि साम्राज्यवादियों की अफ्रीका में बढ़ी हुई दिलचस्पी को दर्शाता है। जनवरी 2014 में जापान के प्रधानमंत्री शिंजो आबे ने अफ्रीकी महाद्वीप की यात्रा के दौरान साम्राज्यवादी मंशाओं को साफ-साफ कबूल कर लिया। उन्होंने कहा कि ''अपने आकूत संसाधनों के साथ अफ्रीका से विश्व को बहुत सी उम्मीदें हैं।''

यूरोपीय यूनियन 2007 में ही अफ्रीका को 'इकनॉमिक पार्टनरशिप एग्रीमेंटस' के नाम पर मुक्त-व्यापार समझौते के तहत लाने की कोशिश में हैं। लेकिन कई देशों में जनता के प्रतिरोध के चलते अभी तक यह समझौता सम्पन्न नहीं हुआ।

अमेरिका ने तथाकथित अफ्रीका/यू.एस. शिखर सम्मेलन के माध्यम से अफ्रीकी देशों को और अधिक अपनी कार्पोरेशनों के प्रभाव में लाने की कोशिश की। अपने आर्थिक हित्तों की रक्षा के लिए पश्चिमी साम्राज्यवादी देश अफ्रीका में अपना सैन्य दखल भी लगातार बढ़ा रहे हैं। नाटो सेनाओं द्वारा लीबिया की तबाही इसका प्रमुख उदाहरण है। लीबिया

आज पूरी तरह तबाहहाल है। तरह-तरह के आतन्कवादी गुटों के पैदा होने की जमीन है जिनमें से अधिकतर पश्चिमी साम्राज्यवादियों द्वारा चलाए जा रहे हैं। साम्राज्यवादी इन आतन्कवादी गुटों का इस्तेमाल अन्य अफ्रीकी देशों को अस्थिर बनाने के लिए कर रहे हैं तांकि इसके बहाने इन देशों में सीधा सैन्य हस्तक्षेप किया जा सके। नाईजर (Niger) के यूरोनियम पर फ्रांसीसी कम्पनी अरेवा (AREVA) का कबजा हो चुका है। जर्मनी यहाँ पर सैन्य अड्डा स्थापित करने जा रहा है। अमेरिका यहाँ पर अपना ड्रोनों का अड्डा चला रहा है। फ्रांस ने अफ्रीका में अपनी उपस्थिति बढ़ाते हुए माली में अपना सैन्य अड्डा स्थापित कर लिया है। माली के अलावा Ivory Coast, नाईजर, चाड तथा सेन्ट्रल अफ्रीकन रीपबलिक में भी फ्रांस ने अपनी सैन्य उपस्थिति बढ़ाई है।

इसी तर्ज पर अमेरिका ने अफ्रीका में अपना सैन्य हस्तक्षेप बढ़ाने के लिए अफ्रीका कमाण्ड (AFRICOM) का गठन किया है जिसका सदर मुकाम फिलहाल सटुटगार्ट (जर्मनी) में है, तथा इन दिनों यू.एस. इसे अफ्रीका में ही स्थानान्तरित करने की कोशिश में है।

1991 में सामाजिक-साम्राज्यवादी सोवीयत यूनियन के बिखराव तथा 'शीत युद्ध' की समाप्ति के उपरान्त पूँजीवादी चीना का अफ्रीका में हस्तक्षेप बढ़ना शुरू हुआ। चीन अफ्रीका को अपने उत्पादों के लिए एक मण्डी तथा तेल, कीमती खणिज तथा कृषि उत्पादों के स्रोत के रूप में देख रहा था। 2007 तक आते-आते चीन अपने तेल आयात का एक तिहाई, अफ्रीका के तेल निर्यात का लगभग 3 फीसदी अफ्रीका से करता है। इस समय अमेरिका अफ्रीकी कच्चे तेल का सबसे बड़ा आयातक था। मध्य पूर्व में चल रहे संकट के मद्देनजर चीन ने अफ्रीका के तेल के स्रोतों के दोहन पर ज्यादा ध्याना देना शुरू किया। साल 2000 से चीन के अफ्रीका के साथ सम्बन्ध तीव्र गति से आगे बढ़े हैं। मई 2012 में चीन अमेरिका तथा यूरोप को पीछे छोड़ कर अफ्रीका का सबसे बड़ा व्यापारिक साझेदार बन गया। चीन तथा अफ्रीका के बीच व्यापार 2000 में 10 बिलियन डॉलर से बढ़कर 2010 में 114 बिलियन डॉलर हो गया और 2011 में बढ़कर 166 बिलियन डॉलर हो गया। 2010 तक अफ्रीका में चीनी निवेश 40 बिलियन डॉलर था जो चीन के वैश्विक निवेश का महज 4 प्रतिशत था। 2030 तक यह बढ़ कर 10 प्रतिशत होने की उम्मीद जताई जा रही है। अपने आर्थिक हितों की रक्षा के लिए चीन अब अफ्रीका में अपनी सैन्य उपस्थिति भी बढ़ाने लगा है। 2016 में एक छोटे से गरीब अफ्रीकी देश जीबूती (Djibouti) में अपने सैन्य अड्डे का निर्माण शुरू किया । इसी वर्ष 1 अगस्त को यह सैन्य अड्डा बाकायदा शुरू हो गया है। अमेरिका तथा फ्रांस के यहाँ पर पहले से ही सैन्य अड्डे हैं।

आज अफ्रीका अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा का एक अहम अखाड़ा बना हुआ है। यू.एस., यूरोप तथा जापान चीन को ध्यान में रखकर अपनी नीतियाँ बना रहे हैं। आर्थिक क्षेत्र में अमेरिका तथा चीन के बीच अफ्रीका में मुकाबला तीखा हो रहा है। ZTE तथा Huawei जैसी कम्पनियाँ अमेरिकी तथा यूरोपीय कम्पनियों की कीमत पर अफ्रीका में अपनी जगह बना रही हैं। अफ्रीका के विभिन्न क्षेत्रों में चीनी उद्यमों के उभार से अमेरिका तथा यूरोप आदि चिन्तित हैं।

इसके साथ ही चीन ने अफ्रीका में ''शान्ति और सुरक्षा'' के क्षेत्र में भी अपना दखल बढ़ाना शुरू कर दिया है जिस पर अमेरिका के रणनीतिकार बहुत ध्यान दे रहे हैं। सितम्बर 2015 में संयुक्त राष्ट्र महासभा को संबोधित करते हुए चीनी राष्ट्रपति शी जिनपिंग ने UN Capability Readiness System में शामिल होने तथा 8000 सैनिकों की स्थाई ''शान्ति'' सेना बनाना का ऐलान किया। उन्होंने यह भी कहा कि यह ''शान्ति'' सेना मुख्यता अफ्रीका में तैनात की जाएगी। चीन अफ्रीकन यूनियन को एक अफ्रीकन अस्थाई (African Standby Force) सेना बनाने के लिए सैन्य सहायता भी दे रहा है।

इस तरह अफ्रीका में आज अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा की आग सुलग रही है। भविष्य में जिसेक लावा बनने की तमाम सम्भावनाएँ मौजूद हैं।

दक्षिण चीन सागर: दक्षिण चीन सागर के टापू चीन तथा अमेरिका और उसके सहयोगियों के बीच एक टकराव का मुद्दा बने हुए हैं। बताया जा रहा है कि यहाँ पर तेल और कुदरती गैस के बड़े भण्डार हैं। दूसरा यह सागर रास्ते व्यापार का मुख्य रूट होने के नाते इन टापुओं का भूरणनीतिक महत्व बहुत अधिक है। चीन इस इलाके में बनावटी टापू बना रहा है तथा आस-पास के टापुओं पर भी अपना हक जता रहा है। दूसरी तरफ वियतनाम, फिलीपीनस, ताईवान, इण्डोनेशिया, जापान आदि इन टापुओं पर अपना हक बता रहे हैं। चीन इस इलाके पर कबजे के लिए सबसे अधिक हमलावर रुख अपना रहा है। इस मामले में वह किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून, समझौते को भी मानने को तैयार नहीं है। चीन यहाँ पर बनाये टापुओं पर बड़े पैमाने पर सैनिक तथा अन्य सैन्य साजो-सामान तैनात कर रहा है।

इन टापुओं पर तेल और प्राकृतिक गैस के बड़े भण्डार हैं भी या नहीं तथा अगर हैं तो इस इलाके की विशेष परिस्थितियों में कोई देश उसे हासिल भी कर सकता है या नहीं, यह सब विवादास्पद है। लेकिन इन टापुओं का भूरणनीतिक महत्व निर्विवाद है।

अमेरिका के सहयोगियों जापान तथा दक्षिण कोरिया के सागर रास्ते होने वाले व्यापार का अच्छा खासा हिस्सा इस रास्ते से होता है। अगर इन टापुओं पर चीन का कबजा हो जाता है तो वह भविष्य में अमेरिकी खेमे से किसी भी टकराव के समय इस रास्ते से जापान तथा दक्षिण कोरिया के व्यापार को बन्द कर सकता है। यही वजह है कि इस इलाके में चीन की बढ़ रही सैन्य उपस्थिति अमेरिकी खेमे के लिए चिन्ता का विषय है।

दक्षिण चीन सागर में चीन के लगातार बढ़ रहे दखल को रोकने के लिए अमेरिका ने अक्टूबर 2015 में इस इलाके में अप्रेशन ''फ्रीडम ऑफ नेवीगेशन'' (FON) के तहत इस इलाके में नौसैनिक (Naval) गशत बढ़ाई। लेकिन चीनियों का दावा है उन्होंने जनवरी 2016 में अमेरिकी जंगी बेड़े USS Curtis Wilbur को Triton Island से तथा मई 2016 में USS William Lawrance को अपने Nasha Island से निकालने को मजबूर किया। चीनियों का दावा है कि जब अमेरिकी B-52 बमवर्षक बिना आज्ञा के चीन के Nasha Island में घुस आए तो उनकी सेना ने उन्हों वहाँ से निकल जाने के लिए मज़बूर किया। [देखें – ''Report on the Military Presence of U.S. of America in the Asia-Pasific Region 2016'' by Nation Institute of South China Sea (NISCS)]

दक्षिण चीन सागर में अपनी पोजीशन के क्षरण को रोकने के लिए अब ट्रम्प प्रशासन के अधिक हमलावर होने के संकेत मिल रहे हैं। ट्रम्प प्रशासन चीन के खिलाफ़ जापान तथा आस्ट्रेलिया के साथ गठबन्धन मज़बूत कर रहा है। एक सम्भावना American South China Sea Naval Squadron के निर्माण की है जिसकी इस खित्ते में चीनी मौजूदगी को चुनौती देने के लिए स्थाई मौजूदगी रहेगी।

निचोड़ के तौर पर

पिछली एक सदी से भी अधिक का समय दुनिया भर से कच्चे माल के संसाधनों तथा सस्ती श्रम शक्ति के खित्ते हथियाने के लिए साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच तीखी प्रतिस्पर्धा का गवाह रहा है। कुछ भ्रमित बुद्धिजीवियों के "साम्राज्यवाद की अन्त" तथा अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा के खात्मे के तमाम ऐलानों के बावजूद आज भी धरती के कोने-कोने में अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा जारी है।

यह सही है कि आज भी संयुक्त राज्य अमेरिका दुनिया की सबसे बड़ी आर्थिक व सैन्य शक्ति है। लेकिन आज अमेरिकी अर्थव्यवस्था भीषण मन्दी से जूझ रही है। इसके सकल घरेलू उत्पादन की दर नीचे आ रही है और इसमें जो वृद्धि दिखाई भी दे रह है वह भी कर्ज विस्तार पर टिकी हुई है।

अमेरिकी साम्राज्यवाद के वैश्विक वर्चस्व को चुनौती देने वाली साम्राज्यवादी धुरियाँ (खास तौर पर रूस और चीन) उभर रही हैं। चीनी अर्थव्यवस्था की वृद्धि भले ही नीचे आ रही है लेकिन अभी भी इसने अपनी अर्थव्यवस्था की वृद्धि दर 6 से 7 प्रतिशत बना रखी है।

आज पूँजीवादी विश्व अर्थव्यवस्था एक ऐसे आर्थिक संकट की ग्रिफत में है जिससे इसके उभर सकने की कोई सम्भावना नज़र नहीं आ रही है। गिर रहे मुनाफे की दर रोकने के लिए साम्राज्यवादियों में सस्ते कच्चे माल के स्रोतों तथा सस्ती श्रम शक्ति के लिए और पूंजी के निम्न आवयविक संघटन वाले क्षेत्रों में निवेश के अवसरों हेतु होड़ भयंकर रूप अखतियार कर चुकी है। इस होड़ से साम्राज्यवादियों के दरमियान टकरावों के और तीखा होने की सम्भावना है।

औपनिवेशवाद के खात्मे तथा न्यूक्लीय निरोधक (Deterrent) के चलते यह टकराव एक विश्वयुद्ध का रूप भले ही न अख्तियार करें, लेकिन साम्राज्यवादियों द्वारा अलग-अलग देशों तथा देशों के भीतर अलग-अलग गुटों को सैन्य समर्थन के साथ इलाकाई युद्ध होते रहेंगे। और विश्व अर्थव्यवस्था के मौजूदा संकटग्रस्त परिदृश्य को देखते हुए अधिक सम्भावना इस सिलसिले के उत्तरोत्तर तेज़ होते जाने की है।

***